राजर्षि

श्रीयुत बाबू रवीद्रनाथ ठाकुर के बँगला उपन्यास
का हिन्दी-अनुवाद

अनुवादक
पण्डित श्रीजनार्दन झा

प्रकाशक
इंडियन प्रेस, प्रयाग
१९१०

थमावृत्ति] [मूल्य ॥।=)

भूमिका

हिन्दी भाषा में ऐसे उपन्यासों की बड़ी आवश्यकता है जिन्हें पढ़ कर स्त्री-पुरुष शिक्षा ग्रहण कर सकें। आज तक हिन्दी में जितने उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं उनमें शिक्षा-प्रद कितने हैं? खेद के साथ कहना पड़ता है कि शिक्षाप्रद उपन्यासों की संख्या हिन्दी में बहुत ही कम है। प्रचार यदि कुछ हुआ है तो विशेषतः उन्हीं उपन्यासों का जिन्हें हम अपने गुरुजनों के निकट मुक्त कण्ठ से पढ़ तक नहीं सकते। ऐसे अश्लील, चरित्र बिगाड़नेवाले उपन्यासों के प्रचार से देश का अथवा समाज का क्या उपकार हो सकता है?

बँगला में एक से एक उत्तमोत्तम उपन्यास हैं। यदि उनका अनुवाद हिन्दी में हो तो समाज-सुधार के साथही साथ हिन्दी-साहित्य का भी बहुत कुछ उपकार होना संभव है।

इंडियन प्रेस, प्रयाग के द्वारा अनेक उपयोगी हिन्दी-पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और बराबर प्रकाशित हो रही हैं। इसके लिए समस्त हिन्दी-प्रेमी सज्जनों को, उक्त प्रेस के स्वामी श्रीमान् बाबू चिन्तामणि घोष का, हृदय से कृतज्ञ होना

चाहिए। उन्हीं की कृपा से यह राजर्षि हिन्दी में प्रकाशित हो कर हिन्दी-प्रेमियों की सेवा में समर्पित किया जाता है।

बँगला के प्रसिद्ध लेखक श्रीयुत बाबू रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम कौन नहीं जानता। उन्हीं की उदार लेखनी से यह महत्त्वपूर्ण, शिक्षा से भरा हुआ इतिहासमूलक राजर्षि उपन्यास निकला है।

इस उपन्यास की सरसता से इतने दिन प्रायः बँगला के पाठक मात्र ही परिचित थे किन्तु इसका अनुवाद हिन्दी में हो जाने से अब हिन्दी के सहृदय पाठक भी इसकी सरसता का आस्वादन कर सकते हैं।

इस उपन्यास में त्रिपुरा के महाराज गोविन्दमाणिक्य की उदारता का वर्णन विशेष-रूप से किया गया है। गोविन्द-माणिक्य ने राजा होकर भी सर्वदा ऋषियों के समान आच-रण किया। वे कभी राजमद में लिप्त नहीं हुए। प्रजा का उपकार करना ही उनका मुख्य व्रत था। उन्होंने प्रजा की भलाई के कितने ही अच्छे अच्छे काम किये। वे यही चाहते थे कि उनके राज्य में कोई मूर्खता का काम न करे, ऐसा कोई अनुचित कार्य न होने पावे जिससे किसी का कुछ अनिष्ट हो; सभी लोग भ्रातृभाव से सुखपूर्वक समय बितावें। किन्तु अच्छे कामों में विघ्न डालनेवाले लोगों की कमी नहीं रहती। महाराज गोविन्दमाणिक्य के पुरोहित रघुपति ठाकुर ने उनसे

विरुद्ध होकर उन्हें विपदस्थ करने के लिए क्या क्या षड्यन्त्र किया और अन्त में फिर उसका परिणाम क्या हुआ, इन सब बातों का उल्लेख ग्रन्थकर्ता ने इस उपन्यास में बड़े महत्त्व के साथ किया है। यह उपन्यास मानो हृदय-कपाट के अज्ञानरूपी ताला खोलने की एक अनमोल कुञ्जी है। यह उपन्यास साधारण उपन्यास नहीं है। इसका आशय और इसका उद्देश बहुत बड़ा है, जिसे सत्त्वगुणी लोग समझ कर बहुत कुछ अपने देश और धर्म का सुधार कर सकते हैं।

मैंने इस उपन्यास को जहाँ तक हो सका अविकल अनुवाद करने की चेष्टा की, किन्तु रोचकता भङ्ग होने के भय से कहीं कहीं कुछ परिवर्तन भी करना पड़ा। इसकी रोचकता पाठकों के विचार पर अवलम्बित है। पाठकगण यदि इस उपन्यास को पढ़ कर प्रसन्न होंगे तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

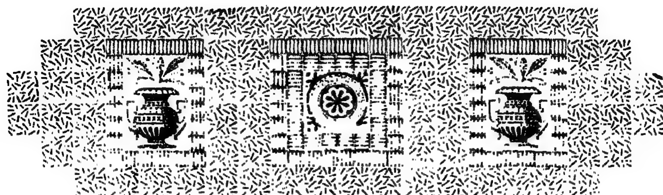
श्रीजनार्दन झा

सूचीपत्र

विषय				पृष्ठ
पहला परिच्छेद	...	...	...	१
दूसरा ,,	...	...	...	५
तीसरा ,,	...	...	...	११
चौथा ,,	....	...	...	१६
पाँचवाँ ,,	...	...	...	२१
छठा ,,	...	...	...	२५
सातवाँ ,,	...	...	...	३१
आठवाँ ,,	....	...	...	३४
नवाँ ,,	...	...	...	४५
दसवाँ ,,	...	...	...	४९
ग्यारहवाँ ,,	...	...	...	५७
बारहवाँ ,,	...	...	...	६१
तेरहवाँ ,,	...	...	...	६४
चौदहवाँ ,,	...	...	....	७०
पन्द्रहवाँ ,,	...	...	...	७७
सोलहवाँ ,,	...	...	...	८२
सत्रहवाँ ,,	...	...	...	८७

विषय				पृष्ठ
अठारहवाँ परिच्छेद...		...	...	९२
उन्नीसवाँ ,,	...	...	...	९७
बीसवाँ ,,	...	...	...	१०२
इक्कीसवाँ ,,	...	...	...	१०८
बाईसवाँ ,,	...	....	...	११५
तेईसवाँ ,,	...	...	...	११८
चौबीसवाँ ,,	...	...		१२२
पच्चीसवाँ ,,	...	...	...	१२७
छब्बीसवाँ ,,	...	...	...	१३३
सत्ताईसवाँ ,,	...	...	...	१४१
अट्ठाईसवाँ ,,	...	...	...	१४५
उनतीसवाँ ,,	...	...	...	१४८
तीसवाँ ,,	...	...	...	१५९
इकतीसवाँ ,,	...	...	...	१६३
बत्तीसवाँ ,,	...	...	...	१६९
तैंतीसवाँ ,,	...	...	...	१७४
चौंतीसवाँ ,,	...	...	...	१७७
पैंतीसवाँ ,,	...	...	...	१८२
छत्तीसवाँ ,,	...	...	...	१८८
सैंतीसवाँ ,,		...	...	१९५

विषय				पृष्ठ
अड़तीसवाँ परिच्छेद		...	...	२०१
उनतालीसवाँ ,,	...	...	...	२०७
चालीसवाँ ,,	...	...	...	२१०
इकतालीसवाँ ,,	....	...	-	२१३
बयालीसवाँ ,,	...	...	...	२२०
तेँतालीसवाँ ,,	...	...	...	२३४
चवालीसवाँ ,,	...	...	...	२४१



राजर्षि

पहला खण्ड

पहला परिच्छेद

भुवनेश्वरी देवी के मंदिर का घाट पत्थर का बना है। वह गोमती नदी के भीतर तक चला गया है। एक दिन सवेरे गरमी के मौसम में त्रिपुरा के महाराज गोविन्दमाणिक्य स्नान करने आये। उनके साथ उनके भाई नक्षत्रराय भी थे। उसी समय एक छोटी सी लड़की अपने छोटे भाई को साथ लिये उस घाट पर आई। उसने राजा का दुपट्टा पकड़ लिया और पूछा—"तुम कौन हो?"

राजा ने मुसकुरा कर कहा—"मैं तुम्हारा सेवक हूँ।"

बालिका ने कहा—"मुझे पूजा के लिए फूल तोड़ दो।"

राजा ने कहा—अच्छा, चलो।"

राजा के सारे नौकर चकित होकर बोले—"महाराज क्यों जायँगे, हम लोग फूल तोड़े देते हैं। हम किस लिए हैं?"

राजा ने कहा—"इसने मुझसे कहा है, इस कारण मैं ही तोड़ूँगा।

राजा ने उस लड़की के मुँह की ओर ध्यान से देखा, उस दिन का विमल उषःकाल जैसा शोभायमान था उस लड़की का मुँह भी वैसा ही शोभायमान था।

जिस समय वह कुमारिका राजा का हाथ पकड़े मन्दिर के पास फुलवाड़ी में घूम रही थी उस समय चारों ओर खिले हुए बेला के स्वच्छ फूलों के सदृश उसके प्रफुल्ल मुँह से मानो एक प्रकार का सुगन्ध जंगल में फैल रहा था। छोटा लड़का भी अपनी बहन का कपड़ा हाथ से पकड़े उसके साथ साथ घूम रहा था। वह केवल अपनी बहन को ही जानता था। राजा के साथ उसका विशेष परिचय न हुआ।

राजा ने उस बालिका से पूछा-"तुम्हारा नाम क्या है?"

बालिका ने कहा—"हासी।"

राजा ने उस छोटे लड़के से भी नाम पूछा। लड़का अपनी बड़ी बड़ी आँखों को मल कर बहन के मुँह की ओर देखने लगा। उसने कुछ जवाब न दिया।

हासी ने उसकी देह पर हाथ रख कर कहा—"बोलो न भाई, मेरा नाम ताता है।"

लड़का अपने छोटे छोटे होठों को खोल कर धीरे से बोला—"मेला नाम ताता है।" इतना कह कर उसने बहन के कपड़े को और भी ज़ोर से पकड़ लिया।

हासी ने राजा को समझा कर कहा—"यह अभी बच्चा है न, इसीसे सब लोग इसे ताता कहते हैं। फिर छोटे भाई की ओर देख कर बोली—"अच्छा मन्दिर तो कहो।"

लड़का बहन की ओर देख कर बोला—"लदन्द"।

हासी ने हँस कर कहा—"ताता अभी स्पष्टरूप से मन्दिर नहीं बोल सकता, इसी से "लदन्द" कहता है। अच्छा, कलाई तो कहो।

लड़का ठहर कर बोला—"बलाई।"

हासी फिर हँस कर कहने लगी—"ताता हम लोगों की तरह कलाई नहीं बोल सकता; बोलता है—"बलाई"। यह कह कर वारंवार चुम्मा लेते लेते हासी ने ताता को चञ्चल कर दिया।

ताता को बहन की इतनी हँसी और इतने प्यार का कोई कारण ढूँढ़ने पर भी न मिला। वह केवल अपने विशाल नेत्रों को मल कर देखता रहा। यथार्थ में मन्दिर और कलाई शब्द के उच्चारण में ताता ने बिलकुल भूल की। इसे कोई ना मंजूर नहीं कर सकता। ताता की इतनी उम्र में हासी मन्दिर को

लद्दन्द नहीं बोलती थी। वह मन्दिर को पाल्लू कहती थी। कलाई को वह बलाई कहती थी या नहीं, यह मालूम नहीं, किन्तु कड़ी को घई कहती थी। जो हो, ताता का ऐसा विचित्र उच्चारण सुन कर उसको अधिक हँसी आवेगी, इसमें अब आश्चर्य ही क्या।

ताता के सम्बन्ध की अनेक घटनायें वह राजा से कहने लगी। किसी समय एक बूढ़ा आदमी कम्बल ओढ़े आया था। ताता ने उसे भाल्लू कहा था। ताता की ऐसी अज्ञानता! और एक बार ताता ने सरीफ़ा के फलों को चिड़िया समझ कर अपने मोटे मोटे और छोटे छोटे हाथों से ताली बजा कर उन्हें उड़ा देने की चेष्टा की थी। हासी की अपेक्षा ताता एक निरा अबोध बालक है। इस बात को ताता की बहन ने सविस्तर उदाहरणों द्वारा भली भाँति साबित कर दिया। ताता अपने सम्बन्ध की सभी बातें ध्यान देकर सुन रहा था। जहाँ तक वह समझ सका उसमें मनस्ताप का कोई कारण नहीं पाया। इसी प्रकार उस दिन सबेरे फूल तोड़ने की विधि समाप्त हुई। राजा ने जब उस छोटी बालिका के आँचल को फूलों से भर दिया तब उन्होंने जाना कि मानो उनकी पूजा परिपूर्ण हुई। इन्हीं दोनों सरलहृदयों के स्नेह का दृश्य देख कर, इस पवित्र हृदय की आशा पूरी करके और फूलों का संचयन करके मानो उनके देवपूजन का काम पूरा हुआ।

दूसरा परिच्छेद

एक दिन थोड़ीसी देर ही मिलने से उन दोनों भाई-बहनों में राजा का इतना अधिक प्रेम हो गया था कि वे प्रातःकाल जब पहले उन दोनों का मुँह देख लेते थे, उनसे मिल लेते थे, तब चारपाई से उठते थे। प्रतिदिन का यह नियम था कि जब तक उनको फूल तोड़ कर नहीं दे लेते थे तब तक वे स्नान नहीं करते थे। वे दोनों भी राजा के साथ ऐसे हिल मिल गये थे कि जब तक राजा स्नान किया करते थे तब तक वे भी घाट पर ही बैठे उनके स्नान का तमाशा देखा करते थे। और, जिस दिन दुर्भाग्यवश राजा को उन दोनों का दर्शन नहीं होता था उस दिन ऐसा मालूम होता था कि आज राजा का नित्य कर्म ही अधूरा रह गया।

हासी और ताता दोनों बे-माँ-बाप के थे। उनके केवल एक चचा था। चचा का नाम था केदारेश्वर। उस के भी और कोई बाल-बच्चा न था। बस यही दोनों बालक उसके अवलम्ब और सुख की सामग्री थे।

एक वर्ष और व्यतीत हो जाने पर, अब, ताता मन्दिर शब्द का उच्चारण ठीक ठीक करने लगा। किन्तु कड़ाई को अब भी बलाई ही बोलता है। कारण यह कि अभी वह अच्छी तरह बोलना नहीं जानता। जब उसकी बहन गोमती नदी के किनारे एक वृक्ष के नीचे पाँव पसार कर बैठती और

कोई कथा-कहानी कहने लगती तब ताता उसे बड़े ध्यान से चाव के साथ सुनता था। उन बे सिर-पैर की कथा-कहानियों को सुनकर न जाने वह क्या समझता था। एक वृक्ष के नीचे खुली हवा में बैठे हुए नन्हें से बालक के कोमल हृदय में कहानी सुन कर कैसे कैसे भाव उदय होते थे, उन्हें हम लोग नहीं जान सकते। ताता में एक श्रौर बड़ी विचित्र बात थी। वह यह कि वह किसी श्रौर लड़के के साथ नहीं खेलता था। बस, वह सदा अपनी बहन के साथ ही छाया की तरह फिरा करता था।

आषाढ़ का महीना है। सबेरे से आकाश बादलों से घिरा हुआ है। पानी तो अभी नहीं बरसता किन्तु पानी बरसने के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। दूर देश में कहीं अवश्य वर्षा हुई है। नहीं तो हवा में ऐसी ठंडक कहाँ से आती? गोमती नदी के जल में श्रौर नदी के दोनों किनारों के जंगल में काले आसमान की छाया पड़ रही है। कल अमावस थी। इसी से भुवनेश्वरी की पूजा कल हो चुकी।

हासी श्रौर ताता के हाथ पकड़े हुए राजा नियमित समय पर स्नान करने आये हैं। एक लोहू की धार बहने की लकीर उजले पत्थर के बँधे हुए घाट की सीढ़ियों पर से होती हुई गोमती के जल में जा कर विलीन हो गई है। कल रात में जो एक सौ एक भैंसों का बलिदान हुआ था, यह लोहू उन्हीं

का था। हासी ने उस लोहू के दाग़ को देख और आश्चर्य्य में होकर राजा से पूछा—"यह कैसा दाग़ है?" राजा ने कहा—"यह लोहू का दाग़ है।" उसने कहा—"इतना लोहू क्यों?" इस तरह अधीर सी हो कर बालिका ने पूछा—"इतना लोहू क्यों।" यही राजा के हृदय में भी प्रश्न उठने लगा कि वास्तव में "इतना लोहू क्यों।" वे एकाएक काँप उठे। बहुत दिनों से वे प्रतिवर्ष लोहू की धार बहते देखते आते हैं सही, किन्तु आज एक छोटी सी लड़की के मुख से यह प्रश्न सुन कर उन के मन में भी सन्देह होने लगा—"इतना लोहू क्यों?" वे उत्तर देना भूल गये और अन्यमनस्क हो कर स्नान करते करते इसी प्रश्न को सोचने लगे। उन्होंने मनही मन कहा—"गोमती! तू प्रतिवर्ष कई सौ असहाय निरपराधी जीवों का लोहू बहन करती आती है तब तेरा जल ऐसा स्वच्छ क्यों? हासी सीढ़ी पर बैठी अपने आँचल को पानी से भिगो कर धीरे धीरे लोहू का दाग़ मिटाने लगी। उसकी देखादेखी ताता भी अपने नन्हें नन्हें हाथों से वैसा ही करने लगा। हासी का वस्त्र बिलकुल ही लोहू से लाल हो गया। जितनी देर में राजा ने स्नान किया उतनी देर में उन्होंने लोहू के दाग़ को धोकर साफ़ कर दिया। वहाँ से लौट कर घर पहुँचते ही हासी को ज्वर हो आया। ताता पास में बैठकर अपनी दो छोटी अँगुलियों से बहन की झँपी हुई आँखों की पलक

खोल देने की चेष्टा करके बीच बीच में बहन बहन "पुकारने" लगता है। इस प्रकार पुकारी जाने पर वह चौंक कर कुछ जाग सी उठती है और "ताता क्या है" कहकर ताता को अपने पास खींचती है। उस की आखें फिर झँप जाती हैं। ताता बड़ी देर तक चुपचाप बहन के मुँह की ओर देखता रहा, कुछ बोला नहीं। आख़िर बड़ी देर के बाद धीरे धीरे बहन के गले से लिपट कर उसके मुँह के पास अपना मुँह ले जाकर धीरे धीरे बोला—"बहन तू उठेगी?" हासी चौंक कर जाग उठी और उसने ताता को छाती से लगाकर कहा "लला, क्यों न उठूँगी। परन्तु अब उसको उठने का सामर्थ्य कहाँ। ताता के छोटे से हृदय पर मानो अन्धकार छा गया। उसके सारे दिन का खेलना कूदना और आनन्द की आशा बिलकुल एक बार ही मिट्टी में मिल गई। आकाश घोर अन्धकार से व्याप्त हो गया। घर के छप्पर पर कुछ कुछ पानी पड़ने का शब्द सुनाई देने लगा। वह देखो, सामने इमली का पेड़ भीग गया। रास्ते में कोई राहगीर नहीं देख पड़ता। केदारेश्वर एक वैद्य को अपने साथ लाये हैं। वैद्य ने नाड़ी देखी तो उनको लक्षण अच्छा नहीं जान पड़ा।

उसके दूसरे दिन स्नान करने के लिए आकर राजा ने देखा, आज उनकी इन्तज़ार से मन्दिर में वे दोनों भाई-बहन नहीं हैं। मन में सोचा कि इस भयङ्कर बदली के सबब वे

दोनों नहीं आ सके। स्नान, तर्पण समाप्त कर तामदान पर आरूढ़ हो राजा ने बहरों को केदारेश्वर के घर की ओर ले चलने की आज्ञा दी। नौकरों को यह सुन कर बड़ा ही आश्चर्य हुआ। किन्तु राजा की आज्ञा पर कोई कुछ बोल न सका। राजा की सवारी जब आँगन में जा पहुँची तब उस के घर में बड़ी ही धूम मची।

उस गोलमाल में रोगी की बीमारी की बात सभी भूल गये। केवल ताता वहाँ से नहीं हटा। वह अपनी बेहोश बहन की गोद के पास ही, उसके कपड़े का एक छोर मुँह में डाल कर, चुपचाप बैठा रहा। राजा को घर में आते हुए देख कर ताता ने पूछा—"क्या हुआ है?" उद्विग्नहृदय होने के कारण राजा ने कुछ भी उत्तर न दिया। ताता ने फिर गर्दन झुला झुला कर पूछा—"क्या बहन को चोट लग गई है?" उस के चचा केदारेश्वर ने कुछ रुष्ट हो कर कहा—"हाँ चोट लगी है।" ताता ने अब बहन की गोद के पास जा कर उसके मुँह को उठाने की चेष्टा करते हुए गले से लिपट कर पूछा, "बहन, तुम्हारे किस जगह चोट लगी है?" इस पूछने का अभिप्राय उसके मन में यही था कि जिस जगह उसके चोट लगी है उस जगह फूँक कर और हाथ फेर कर बहन के समस्त कष्ट को दूर कर दे; लेकिन बहन ने जब कोई उत्तर न दिया तब उससे और सहा नहीं गया। उसके दोनों छोटे

छोटे होठ उत्तरोत्तर फूलने लगे। जब उससे न रहा गया तब वह शोक से रो उठा और बोला—"कब से मैं बैठा हूँ, कुछ बोलती क्यों नहीं? मैं ने क्या बिगाला है। जो मेरे ऊपर इतनी खफा होती हो।" राजा के सामने ताता का ऐसा व्यवहार देख कर केदारेश्वर बड़े ही व्यग्र हुए। और क्रोध के साथ ताता का हाथ पकड़ कर उसे दूसरे घर में उठा ले गये। तब भी हासी कुछ बोली नहीं।

राजवैद्य बीमारी बिगड़जाने की बात पहले ही आकर कह गये थे। राजा स्वयं उस लड़की के सिरहाने बैठ गये। शाम होने पर लड़की बकने लगी—"हाय हाय! इतना लोहू क्यों?" राजा ने कहा—"मैं इस रक्तप्रवाह को दूर करूँगा।" बालिका फिर बोली—"आओ भाई ताता, हम तुम दोनों मिल कर इस लोहू को मिटा डालें।" शाम होने के कुछ ही देर बाद हासी ने एक बार आँखें खोली थीं। उसने आँखें खोल कर एक बार चारों ओर को ऐसे देखा कि मानो वह किसी को ढूँढ़ रही है। उस समय ताता दूसरे घर में रोते रोते सो गया था। जब हासी को कोई देख न पड़ा तब उसने आँखें बन्द कर लीं।

बस, उस समय बंद की हुई आँखें फिर कभी नहीं खुलीं। उसी दिन आधी रात के समय राजा की गोद में पड़ी हुई हासी का प्राण-पखेरू उड़ गया। जिस समय लोग सदा के

लिए हासी को घर से बाहर ले गये थे उस समय ताता नींद में अचेत पड़ा था। यदि ताता उस समय जागता होता तो वह अपनी बहन के पीछे छाया की तरह अवश्य चला जाता।

तीसरा परिच्छेद

राजा सभा में बैठे हैं। भुवनेश्वरी देवी के मन्दिर के पुरोहित (पुजारी) किसी कार्यवश राजा के पास आये हैं। पुरोहित का नाम रघुपति है। इस देश में पुरोहित को लोग चोन्ताई कहते हैं। भुवनेश्वरी देवी के पूजा होने के चौदह-दिन बाद निश्शब्द रात्रि में चौदह देवताओं की एक और पूजा होती है। इस पूजा के दिन रात में कोई घर के बाहर नहीं निकल सकता। राजा भी बाहर नहीं निकल सकते। यदि राजा घर के बाहर आयँ तो उन्हें पुरोहित के निकट अर्थदण्ड (जुर्माना) देना पड़े। किंवदन्ती है कि उस पूजा की रात में नरवलि पड़ती है। उस पूजा के उपलक्ष में सब से पहले जिन पशुओं का बलिदान होता है वह राजा से राजभवन-सम्बन्धी दान कह कर लिया जाता है। पुरोहित बलिदान के लिए राजा के पास पशुओं को लेने आये हैं। पूजा के अब बारह दिन बाक़ी रह गये हैं।

राजा बोले—"इस साल से मन्दिर में अब जीव-हिंसा न होगी।" यह सुन कर सब लोग अवाक रह गये।

पुरोहित रघुपति बोले—"क्या मैं यह स्वप्न देखता हूँ।"

राजा बोले—"नहीं महाशय, इतने दिन हम लोग स्वप्न देखते थे। अब हम लोगों की आँखें खुली हैं। एक बालिका का स्वरूप धारण करके भगवती ने मुझको दर्शन दिया है। वह कह गई है कि मैं दयामयी जगन्माता हूँ। मैं अब अपने जीवों का रक्तपात नहीं देख सकती।

रघुपति ने कहा—"तब इतने दिनों से देवी क्यों जीवों का रक्तपान करती थी?

राजा ने कहा—"नहीं, वह पान नहीं करती। तुम लोग जीवों को मार कर जब लोहू बहाते हो तब वह मुँह फेर लेती है।"

रघुपति बोले—"महाराज, आप राज-काज को अच्छी तरह समझते हैं, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु पूजा की बात आप कुछ भी नहीं जानते। इस विषय में यदि भगवती को कुछ अप्रसन्नता होती तो मैं ही पहले इस बात को जानता। नक्षत्रराय बड़े ज्ञानी की तरह सिर हिला कर बोले "हाँ, यह बात ठीक है। देवी की यदि कुछ अप्रसन्नता होती तो पहले पुरोहित महाशय को ही यह बात विदित होती।"

राजा—"जिसका हृदय कठोर हो गया है वह देवी की बात नहीं सुन पाता।"

नक्षत्रराय ने पुरोहित के मुँह की ओर देखा। उसका मतलब यही है कि इस बात का जवाब कुछ ज़रूर देना चाहिए।

रघुपति मारे क्रोध के आग बबूला हो कर बोल उठे—"आप तो भ्रष्टाचार नास्तिक की तरह बात कर रहे हैं।"

गोविन्दमाणिक्य, क्रोधाग्नि से पज्वलित पुरोहित के मुँह की ओर देख कर बोले—"महाशय, राजसभा में बैठकर आप अपने समय को वृथा नष्ट कर रहे हैं। आप मंदिर में जाकर अपना काम कीजिए। जाते समय रास्ते में इस बात का प्रचार कर दीजिएगा कि मेरे राज्य में जो कोई देवता के निकट जीवबलि देगा उसको निर्वासन दण्ड होगा। अर्थात् उसको देश निकाले की सज़ा मिलेगी।"

तब रघुपति काँपते काँपते उठ खड़े हुए और यज्ञोपवीत (जनेऊ)को छूकर बोले,"जाओ, अब तुम्हारा नाश हो" पुरोहित को शाप देते सुन चारों तरफ़ से हा! हा! करते हुए सभासद गण उन पर जा टूटे। राजा ने सङ्केत से सबको मना किया। सब लोग अलग जा खड़े हुए। रघुपति कहने लगे—"तुम राजा हो, तुम इच्छा करो तो प्रजा का सर्वस्व हरण कर सकते हो। इसीसे क्या भगवती की बलि भी हरण कर लोगे? तुम्हारा सामर्थ्य क्या है? देवी के सेवक रघुपति के रहते किस प्रकार तुम पूजा में विघ्न करते हो, मैं भी तो देखूँगा।"

मन्त्री (दीवान) राजा के स्वभाव से भली भाँति परिचित थे। वे जानते थे कि किसी बात का सङ्कल्प कर लेने पर राजा उसको ज़रूर पूरा करते हैं। उन्होंने धीरे धीरे दरबार में कहा—"महाराज, आपके स्वर्गीय पूर्व पुरुष देवी के आगे नियमित रूप से बराबर बलि देते आये हैं। इसमें एकबार भी कभी अन्यथा नहीं हुआ।" इतना कह कर वे चुप हो गये।

राजा कुछ नहीं बोले—मन्त्री ने कहा—"आज इतने दिनों के बाद आपके पूर्व पुरुषों के द्वारा संस्थापित इस प्राचीन पूजा में बाधा होने से स्वर्ग में वे पितर लोग अप्रसन्न होंगे।'

महाराज सोचने लगे। नक्षत्रराय अपनी पण्डिताई बघारते हुए बोले—"हाँ, स्वर्ग में वे पितर लोग अप्रसन्न होंगे।"

मन्त्री ने फिर कहा—"महाराज एक काम करें, जहाँ हज़ार बलिदान होता है वहाँ अब एक ही सौ बलि की आज्ञा दी जाय।"

सभासद्‌गण वज्राहत की तरह अवाक् हो रहे। गोविन्द-माणिक्य भी बैठ कर इस बात को विचारने लगे। रुष्ट रघुपति अधीर हो दरबार से उठ कर जाने लगे।

उसी समय द्वारपालों के हाथ से किसी प्रकार बच कर खुले बदन, खुले पैर, एक छोटा सा लड़का दरबार में आया। उसके बदन पर न कोई कपड़ा था, न पैरों में जूता। राज-दरबार के बीच में खड़ा होकर अपनी बड़ी बड़ी आँखों से

राजा के मुँह की ओर वह लड़का देख कर कहने लगा—बहन कहाँ हैं ?"

उस बड़े दरबार के सभी लोगों के ऊपर मानो सन्नाटा छा गया। केवल एक छोटे लड़के की कण्ठध्वनि, उस विशाल सभाभवन, में प्रतिध्वनित हो उठी कि "बहन कहाँ है।"

राजा ने तुरन्त सिंहासन से नीचे उतर कर लड़के को गोद में उठा लिया, फिर उन्होंने उच्चस्वर से मन्त्री से कहा—"आज से मेरे राज्य में बलिदान नहीं हो सकेगा। इस पर अब कुछ न बोलो।"

मन्त्री ने कहा—"जो आपकी आज्ञा।"

ताता ने राजा से फिर पूछा—"मेरी बहन कहाँ है ?"

राजा ने कहा—"देवी के पास।"

ताता बड़ी देर तक मुँह में उँगली डाले चुप चाप खड़ा रहा। उस समय उसको ऐसा मालूम हुआ कि मानो वह अपनी बहन का सच्चा पता पा गया। उस दिन से राजा ने ताता को अपने ही पास रख लिया और उसके वृद्ध चचा केदारेश्वर को भी वहीं महल में रहने को जगह बतला दी।

सभासद लोग आपस में यों वादानुवाद करने लगे—"भाई, यह तो मग का मुल्क हो गया। हम लोग तो जानते हैं कि बौद्ध और मग जाति के ही लोग रक्त-पात नहीं करते। क्या अब हमारी हिन्दू-जाति के देश में भी वही रीति जारी होगी ?"

नक्षत्रराय भी उन्हीं लोगों की राय में राय मिला कर बोले,—"हाँ हिन्दुओं के देश में भी यही रीति जारी होगी क्या ?"

सब लोगों ने निश्चय किया कि अवनति का लक्षण इससे बढ़ कर और क्या हो सकता है ? मग जाति और हिन्दुओं में अब क्या फ़रक़ रहा।"

चौथा परिच्छेद

भुवनेश्वरी मन्दिर के नौकर का नाम जयसिंह है। वे जाति के राजवंशी क्षत्रिय हैं। उनके बाप सुचेतसिंह त्रिपुराराजधानी में एक पुराने नौकर थे। सुचेतसिंह की मृत्यु के समय जयसिंह निरे बालक थे। उस असहाय बालक को राजा ने मन्दिर के काम में भरती किया। जयसिंह मन्दिर के पुजारी रघुपति से ही क्रमशः पालित और शिक्षित हुए हैं। लड़कपन से ही मन्दिर में रक्षित होने के कारण जयसिंह मन्दिर को अपना घर मानते थे। मन्दिर की कोई जगह ऐसी न थी जिसे वे न जानते हों, अर्थात् मन्दिर के सभी गुप्त और प्रकट स्थानों से वे भलीभाँति परिचित थे। उनकी माँ जीती न थीं। भुवनेश्वरी की प्रतिमाही को वे माँ करके मानते थे। प्रतिमा के सामने बैठ कर वे बातें किया करते थे। उन्होंने कभी अपने को अकेला नहीं समझा। उनके और

भी कितने ही साथी थे। मन्दिर के पासवाले बगीचों के कितने ही पेड़ों को उन्होंने अपने हाथ से लगा कर बड़ा किया है। चारों ओर उनके लगाये वृक्ष बढ़ रहे हैं। उन पर लतायें चढ़ रही हैं। शाखायें प्रफुल्लित हो रही हैं। छाया फैलती जाती है। उन हरी हरी लताओं से सारा जङ्गल हरा हरा हो रहा है। किन्तु ये सब जयसिंह के हृदय की बातें हैं। उनके इस प्राकृतिक अनुराग की बात को विशेष कर कोई नहीं जानता था। वे अपने विशेष बल और साहस ही के द्वारा लोगों में विख्यात थे।

मन्दिर के काम-काज से निवृत्त होकर जयसिंह अपने घर के द्वार पर बैठे हैं। सामने वाटिका है। दिन ढल गया है। ख़ूब ज़ोर से घटा घिर आई। पानी बरस रहा है। नवीन वृष्टि के जल से जयसिंह के पेड़-पौदे स्नान कर रहे हैं। हर एक पत्ते पर वर्षा की बूँदों के नाचने का उत्सव हो रहा है। वर्षा के पानी की छोटी छोटी सैकड़ों धारायें मिल कर शब्द करती हुई गोमती नदी में जाकर गिर रही हैं। जयसिंह बड़ी ख़ुशी के साथ बैठे हुए अपने उपवन की शोभा देख रहे हैं। चारों ओर काली काली मेघ-मालाओं की छटा, वन की छाया, पल्लवों की श्यामलश्री, मेंडकों की आवाज़ें और लगातार पानी बरसने का झर झर शब्द-बस, जङ्गल में इस

प्रकार नूतन वृष्टि की घटा का आडम्बर देख उनका हृदय आनन्द से उमड़ रहा है।

उसी समय वर्षा में भींगते हुए रघुपति आ पहुँचे। जयसिंह ने बड़ी फ़ुरती से उठ कर पैर धोने के लिए पानी और पहनने के लिए सूखा कपड़ा ला दिया। रघुपति बिगड़ कर बोले—"तुमको कपड़ा लाने के लिए किसने कहा?" यह कह कपड़े को उठा कर घर मे फेंक दिया। जयसिंह पैर धोने के लिए पानी लेकर आगे आ खड़े हुए। रघुपति ने क्रोध में कहा—"ठहरो, ठहरो, तुम उस पानी को रख दो" इतना कह कर पाँव से उस पानी के घड़े को लुढ़का दिया। जयसिंह एकाएक इस बात का कारण कुछ न समझ कर दंग रह गये। वे कपड़े को धरती से उठाकर यथास्थान रखने लगे। रघुपति फिर ग़ुस्सा होकर बोले—"ठहरो, ठहरो, तुम उस कपड़े को मत छुओ।" यह कह वे ख़ुद जाकर कपड़ा उठा लाये। अपने हाथ से पानी लाकर पैर धोये तब जयसिंह ने धीरे धीरे कहा—"प्रभो, मैंने क्या कुछ अपराध किया है?" रघुपति कुछ टेढ़े होकर बोले—"कौन कहता है, तुमने अपराध किया है?" जयसिंह दुखी होकर चुपचाप बैठे रहे। रघुपति व्याकुल चित्त से घर के बाहर इधर उधर घूमने लगे। इसी तरह रात अधिक बीत गई। फिर पानी बरसने लगा। आख़िर रघुपति ने जयसिंह की पीठ पर हाथ रख कर नम्रता से

कहा—"रात बहुत चली गई, अब सो जाओ।" जयसिंह ने रघुपति के मधुर वचनों से मोहित हो कर कहा—"पहले आप सोने के लिए जायँ फिर मैं भी चला जाऊँगा।" रघुपति ने कहा—"मुझको अभी देर है।" देखो, आज मैंने तुम्हारे साथ बड़ी ही सख़्ती की है। इसका कुछ ख़याल मन में न करो। मेरा चित्त उस समय अच्छा नहीं था। मैं सविस्तर समाचार तुमसे कल कहूँगा। अभी तुम सो रहो।

जयसिंह—"जो आज्ञा" कह कर सोने चले गये।

रघुपति सारी रात घूमते ही रह गये।

सवेरे जयसिंह गुरु (रघुपति) को प्रणाम कर उसके सामने खड़े हुए।

रघुपति ने कहा—"जयसिंह, देवी का बलिदान बन्द हो गया।" जयसिंह अचम्भे में होकर बोले—"प्रभो, यह क्या बात है?"

रघुपति—"राजा का ऐसा ही हुक्म हुआ है।"

जयसिंह—"किस राजा का?"

रघुपति रुखाई के साथ बोले—"इस जगह राजा फिर कै गंडा हैं?" गोविन्दमाणिक्य ने हुक्म जारी किया है कि देव-मन्दिर में जीव-बलिदान नहीं होगा।

जयसिंह—"नरबलि?"

रघुपति—"क्यों दिक़ करते हो। मैं जीवबलि कह रहा हूँ। तब फिर नरबलि की बात क्या पूँछते हो?"

जयसिंह—"किसी जीव का भी बलिदान नहीं होगा?"

रघुपति—"नहीं।"

जयसिंह --"क्या महाराज गोविन्दमाणिक्य ने ऐसा ही हुक्म दिया है?"

रघुपति—" हाँ, हाँ, । एक ही बात कितनी बार पूँछोगे।

जयसिंह बड़ी देर तक कुछ न बोले। वे केवल अपने मन में कहने लगे—' महाराज गोविन्दमाणिक्य, तुम धन्य हो।" गोविन्द माणिक्य को जयसिंह बचपन से ही देवता करके मानते थे। आकाशस्थित पूर्णचन्द्र के ऊपर बालकों का जैसा स्वाभाविक अनुराग होता है। गोविन्दमाणिक्य के ऊपर जयसिंह के मन का भाव ठीक वैसाही था। गोविन्दमाणिक्य का शान्तिभाव से भरा हुआ सुन्दर मुख देख कर जयसिंह उस पर अपने प्राण तक न्यौछावर कर सकते थे।

रघुपति ने कहा—"इसका कोई उपाय तो ज़रूर करना होगा।"

जयसिंह—ठीक है। मैं महाराज के पास जाऊँ और उनसे विनयपूर्वक कहूँ कि—?"

रघुपति—"व्यर्थ होगा।"

जयसिंह—"तब क्या करना होगा ?"

रघुपति कुछ देर तक सोच कर बोले—"कल कहूँगा। कल तुम सवेरे नक्षत्रराय के पास जा कर उन्हें गुप्तरीति से मुझसे मिलने को कहना।

पाँचवाँ परिच्छेद

सवेरे नक्षत्रराय ने आकर और रघुपति को प्रणाम करके कहा—"क्या आज्ञा है ?"

रघुपति—"तुम्हारे लिए भगवती की आज्ञा है। पहले भगवती को प्रणाम करने चलो।"

दोनों मन्दिर में गये। जयसिंह भी उनके साथ साथ गये। नक्षत्रराय ने भुवनेश्वरी की मूर्ति के सम्मुख साष्टाङ्ग प्रणाम किया। रघुपति ने नक्षत्रराय से कहा—"कुमार, तुम राजा बनोगे।"

नक्षत्रराय बोले—"क्या कहा महाशय, मैं राजा बनूँगा ?" आप जो कहते हैं उसका कुछ निश्चय नहीं। यह कह कर नक्षत्रराय ख़ूब जोर से हँसने लगे।

रघुपति बोले—"मैं कह रहा हूँ, तुम ज़रूर राजा बनोगे।"

नक्षत्रराय ने कहा—"आप कह रहे हैं, मैं ज़रूर राजा बनूँगा?" यह कह कर रघुपति के मुँह की ओर देखने लगे।

रघुपति—"तो क्या मैं तुमसे झूठ कह रहा हूँ?

नक्षत्रराय—"आप झूठ तो नहीं कहते, पर यह बात होगी क्यों कर? देखिए महाशय, कल मैंने मेंड़क का सपना देखा है। अच्छा, सपने में मेंड़क देखने से क्या होता है; कहिए?"

रघुपति ने हँसी रोक कर कहा—"कैसा मेंड़क देखा? उसके सिर पर चिह्न था न?"।

नक्षत्रराय ज़ोर दे कर बोले—"हाँ, उसके सिर पर चिह्न तो था।"

रघुपति—"हाँ, तब तो राज का टीका तुमको ज़रूर मिलेगा।"

नक्षत्रराय—"तो राज का टीका मुझको मिलेगा। आप कह रहे हैं न? मुझको राज्यलाभ होगा। और, यदि न हो?"।

रघुपति—"क्या मेरी बात झूँठी हो जायगी?"।

नक्षत्रराय—"नहीं, नहीं, मैं यह बात नहीं कहता, मुझको राजतिलक प्राप्त होगा यह तो आप कह ही रहे हैं। किन्तु

मान लीजिए, यदि न हो। क्या दैववश ऐसा नहीं हो सकता कि......।"

रघुपति बात काट कर बोले—"नहीं नहीं, यह बात अन्यथा नहीं हो सकती।"

नक्षत्रराय—"जब आप ऐसा कहते हैं तब यह निःसन्देह अन्यथा नहीं हो सकती। अच्छा, राजा हो जाने पर मैं आपको अपना मन्त्री बनाऊँगा।"

रघुपति—"मैं मन्त्री होना नहीं चाहता।"

नक्षत्रराय बड़ी उदारता के साथ बोले—"अच्छा, तब राजसिंह को ही मन्त्री बनाऊँगा।"

रघुपति—"यह बात देखी जायगी। राजा होने के पहले क्या करना होगा, सो तो पहले सुन लो। देवी राजरक्त देखना चाहती हैं। स्वप्न में मेरे प्रति उनकी यह आज्ञा हुई है।"

नक्षत्रराय—"देवी राजरक्त देखना चाहती हैं! स्वप्न में आपको यही आदेश हुआ है। यह तो अच्छी बात है।"

रघुपति—"आपको गोविन्दमाणिक्य का लोहू लाना होगा।"

नक्षत्रराय—"किसी तरह "हाँ" करके रह गये। पहले तो उन्होंने अच्छी बात है" कह दी, पर अब वह बात मन में उतनी अच्छी नहीं लगी।

रघुपति ने कड़ा हो कर कहा—"क्या तुम्हारे मन में एकाएक भ्रातृस्नेह का उदय हो आया?"

नक्षत्रराय ने ऊपरी मन से हँस कर कहा—"अहा हा, भ्रातृस्नेह! आपने तो ख़ूब कहा। वाह रे! भ्रातृस्नेह! ऐसे चमत्कार और ऐसी हँसी की बात और क्या होगी। भ्रातृस्नेह! क्या ही शरम की बात आपने कही।" किन्तु अन्तर्यामी भगवान् जानते हैं कि नक्षत्रराय के हृदय में भ्रातृस्नेह जाग रहा है। उसको वे हँस कर नहीं उड़ा सकते।

रघुपति—"उस (भ्रातृस्नेह) के होने से फिर क्या करोगे? बोलो।"

नक्षत्रराय—"मैं क्या करूँगा, यह आप ही कहिए।"

रघुपति—"अच्छी तरह इस बात को सुनो, गोविन्दमाणिक्य का लोहू देवी के दर्शनार्थ तुमको लाना होगा।"

नक्षत्रराय—मन्त्रोच्चारण की तरह कह गये। "गोविन्दमाणिक्य का लोहू देवी के दर्शनार्थ लाना होगा।"

रघुपति ने बड़े अनादर के साथ कहा—"नहीं, तुमसे कुछ नहीं हो सकेगा।"

नक्षत्रराय—"क्यों नहीं होगा? जो आप कहिएगा वही होगा। आप आज्ञा देते हैं न?"

रघुपति—"हाँ, मैं आज्ञा देता हूँ।"

नक्षत्रराय—"क्या आज्ञा देते हैं ?"

रघुपति रुष्ट होकर बोले—"देवी को राजा का रक्त देखने की इच्छा है इसलिए तुमको गोविन्दमाणिक्य का लोहू दिखला कर देवी की इच्छा पूरी करनी होगी। यही देवी की आज्ञा है।"

नक्षत्रराय—"मैं आज अभी जाकर फ़तेहख़ाँ को इस काम के लिए तैनात करूँगा।"

रघुपति—"नहीं, नहीं, इस विषय का बिन्दु-विसर्ग मात्र भी और किसी दूसरे को न सुनाओ। मैं तुम्हारी मदद के लिए जयसिंह को नियुक्त करूँगा।"

कल सबेरे आना। उसी समय मैं काम बनने का उपाय बतलाऊँगा।

नक्षत्रराय रघुपति के पंजे से निकल वहाँ से तुरन्त बाहर चले गये।

छठा परिच्छेद

जब नक्षत्रराय चले गये तब जयसिंह ने कहा—"गुरुदेव, ऐसी भयानक बात मैंने कभी नहीं सुनी। आपने जगदम्बा के सामने, जगदम्बा ही का नाम कह कर, भाई के हाथ से

भ्रातृवध का प्रस्ताव किया और मुझको खड़ा होकर वही सुनना पड़ा।"

रघुपति—इसके अलावा और दूसरा उपाय क्या है? तुम्हीं कहो।"

जयसिंह— "उपाय! कैसा उपाय?"

रघुपति—"देखता हूँ, तुम भी दूसरे नक्षत्रराय ही हो। इतनी देर तक तुमने वहाँ क्या सुना?'

जयसिंह—"जो कुछ सुना वह सुनने योग्य न था। उसके सुनने में पाप है।"

रघुपति—"पाप-पुण्य की बात तुम क्या समझोगे।"

जयसिंह—"इतने दिन आपके पास शिक्षा पाई। क्या अब भी मैं पाप-पुण्य की बात कुछ नहीं समझता?"

रघुपति—"सुनो बच्चा। अब तुमको एक और उपदेश देता हूँ। पाप-पुण्य कुछ नहीं है। किसका कौन बाप? किसका कौन भाई? किसी का कोई नहीं। हिंसा यदि पाप है तो सभी हिंसा बराबर है। किन्तु कौन कहता है कि हिंसा पाप है। कितनी ही चींटियाँ आदि छोटे जीवों को हम लोग प्रति दिन पाँव तले मसल कर मार डालते हैं। तो क्या हम लोग उनकी अपेक्षा इतने बड़े हैं कि उनकी जान को कुछ न समझें। हत्या तो रोज़ रोज़ होती है। कोई सिर पर पत्थर का एक

टुकड़ा गिर जाने से, कोई बाढ़ के पानी में बह कर, कोई महामारी (हैज़ा) के मुँह में पड़ कर मरते हैं और कोई मनुष्य की छुरी के आघात से मरते हैं। इन सब तुच्छ जीवधारियों का जीवन-मरण कुतूहल के अतिरिक्त और क्या है ? काल-रूपिणी महामाया के निकट ऐसे असंख्य प्राणियों का बलिदान प्रतिदिन हो रहा है। संसार के चारों ओर से जीवगणों की रक्तधारा उसके विशाल खप्पर में आकर गिरती है। मैंने यदि उस धारा में रक्त की एक बूँद और मिला दी तो क्या अनुचित किया ? किसी न किसी समय तो अपनी बलि को वह लेती ही। मैं तो उसके बीच एक निमित्तमात्र हुआ हूँ।"

तब जयसिंह प्रतिमा की ओर देख कर कहने लगे—"क्या इसीलिए सब लोग तुमको मा कह कर पुकारते हैं। हाय, तुम ऐसी कठोर-हृदया हो। तुमने तो राक्षसियों को भी मात कर दिया ! क्या सारे संसार का लोहू निचोड़ कर पेट भरने ही के लिए तुम अपनी चञ्चल जीभ को बाहर निकाले रहती हो ? तुमने तो स्नेह, प्रेम, ममता, सौन्दर्य्य और धर्म सभी पर पानी फेर दिया। तुम्हें तो बस यह बेहद लोहू की प्यास ही इष्ट है। तुम्हारे ही पेट भरने के लिए मनुष्य मनुष्य के गले पर छुरी फेरेगा। भाई भाई का ख़ून करेगा। बाप बेटे परस्पर मार-काट करेंगे। निष्ठुरे, सच मुच यदि तुम्हारी यही इच्छा है तो मेघ पानी के बदले लोहू क्यों नहीं बरसाता ?

जीवन-प्रदात्री दयारूपिणी नदी रक्त का प्रवाह लेकर समुद्र में जाकर क्यों नहीं प्रवेश करती ? तब इस संसार में एक मात्र हिंसा, विद्वेष, महामारी, और विभीषिका का साम्राज्य क्यों नहीं हुआ ? नहीं, नहीं, माँ ! तुम प्रत्यक्ष होकर जवाब दो, यह उपदेश मिथ्या ! यह शास्त्र असत्य—मेरी माँ को मा न कह कर लोग सन्तान का शोणित पीनेवाली राक्षसी कहें—यह बात मुझसे सही नहीं जायगी ।" इतना कहते कहते जयसिंह की दोनों आँखों से आँसू टपकने लगे । वे अपनी बातों को आपही विचारने लगे । इतनी बातें इसके पहले उनके हृदय में कभी न उठी थीं । यदि रघुपति उन्हें नवीन शास्त्र का अपूर्व उपदेश देने नहीं आते तो ये सब बातें उनके हृदय में कभी न उठतीं ।

रघुपति कुछ हँस कर बोले—"तब तो बलिदान के सम्बन्ध की सभी बातें एक बार ही उठा देनी चाहिएँ ।"

जयसिंह अपने बचपन से बराबर बलिदान देखने आते हैं । इस कारण मन्दिर में बलिदान क्या किसी समय बन्द हो सकता है अथवा बन्द होना उचित है ? इन सब बातों पर उनका मन कुछ भी नहीं लगता । यहाँ तक कि इन बातों का ख़याल आने के साथ उनके हृदय में चोट लगती थी । इसीसे जयसिंह ने रघुपति की बात का जवाब दिया—"वह बात ही न्यारी है । उसका अभिप्राय ही कुछ और है ।

उसमें कोई पाप नहीं । किन्तु उसके निमित्त भाई भाई का ख़ून करेगा। उसीके हेतु महाराज गोविन्दमाणिक्य को... गुरुदेव, मैं आपका पाँव पकड़ कर प्रार्थना करता हूँ । मुझको बहकाइए मत। क्या सचही देवी ने स्वप्न में ऐसा कहा है ? राजा का रक्त न पाने से क्या उसको तृप्ति न होगी ?"

रघुपति कुछ देर मौन धारण कर बोले—"सच नहीं तो क्या मैं झूठ कहता हूँ ? मेरे ऊपर क्या तुम्हारा विश्वास नहीं है ?"

जयसिंह रघुपति के पैर की धूळ सिर चढ़ा कर बोले—"मान लीजिए कि मेरा विश्वास आपके ऊपर शिथिल नहीं हुआ है किन्तु नक्षत्रराय का भी जन्म तो राजकुल में ही है।"

रघुपति ने कहा—"देवताओं का स्वप्न में इशारा मात्र होता है। सब बातें सुनी नहीं जातीं। बहुत बातें अनुभव के द्वारा ही समझ लेनी होती हैं। यह बात तो प्रत्यक्ष देखी जा रही है कि गोविन्दमाणिक्य के ऊपर देवी नाराज़ हुई है। नाराज़ होने का कारण भी तो उत्पन्न हुआ है। अतएव जब देवी ने राज-रक्त की इच्छा प्रकट की है तब यही समझना होगा कि गोविन्दमाणिक्य ही का रक्त वे चाहती हैं।"

जयसिंह—"यदि यह सत्य है तो मैं ही राजरक्त लाऊँगा। नक्षत्रराय को पाप में लिप्त न होने दूँगा।"

रघुपति—"देवी की आज्ञा पालन करने में कोई पाप नहीं।"

जयसिंह—"पाप नहीं तो पुण्य ज़रूर है। उस पुण्य को मैं ही लूटूँगा।

रघुपति—"तो सत्य करके कहो। देखो बच्चा, मैंने तुमको बचपन से ही बड़ी हिफ़ाज़त के साथ प्राण से भी अधिक प्यार करके पाला पोसा है। मैं तुमको खो नहीं सकूँगा। नक्षत्रराय गोविन्दमाणिक्य को मार कर यदि राजा हुए तो उसमें कोई चूँ तक भी न करेगा। परन्तु तुम यदि राजा के ऊपर हाथ चलाओगे तो मैं तुमको फिर नहीं पाऊँगा।"

जयसिंह—"मुझ पर इतना स्नेह। मैं तो एक तुच्छ आदमी हूँ। मेरे स्नेह का ख़याल कर तुम चींटी तक की भी कोई हानि नहीं कर सकते। ऐसी दशा में मेरे ऊपर स्नेह कर के यदि तुम पाप में सनो तो तुम्हारा वह स्नेह मैं अधिक दिन नहीं भोग सकूँगा। उस स्नेह का परिणाम कभी अच्छा न होगा।"

रघुपति झट बोल उठे—"अच्छा, वह बात फिर दूसरे वक़्त होगी। कल नक्षत्रराय के आने पर किसी एक बात का निश्चय हो जायगा।"

जयसिंह ने मन ही मन प्रतिज्ञा कर ली—"राज-रक्त मैं ही लाऊँगा। देवी के सन्तोषार्थ अथवा गुरुदेव के प्रसन्नतार्थ भाई के हाथ से भाई का बध तो कदापि न होने दूँगा।"

सातवाँ परिच्छेद

जयसिंह को सारी रात नींद न आई। गुरु (रघुपति) के साथ जिस बात के ऊपर तर्क-वितर्क चला था उसकी अब शाखा-प्रशाखायें जयसिंह के मन में फैलने लगीं। किसी काम को शुरू करने के लिए समय का अधिक भाग हम लोगों के हाथ में अवश्य है किन्तु उस काम का पूरा होना हम लोगों के वश में नहीं। चिन्ता के सम्बन्ध में भी यही बात घटती है। जयसिंह के मन में बड़े वेग से इस प्रकार एक एक करके सभी बातें उठने लगीं। वे बातें उनके चिर-काल से जमे हुए विश्वास के मूल में कुठारा-घात पहुँचाने लगीं। जयसिंह बड़े ही दुःखी और खिन्न होने लगे। परन्तु उनका दुःख किसी प्रकार भी दूर नहीं हुआ। जिस काली को जयसिंह इतने दिन माँ करके मानते थे उस मातृत्वभाव को गुरुदेव ने क्यों दूर कर दिया। उनको निर्दया कह कर वर्णन क्यों किया। शक्ति की प्रसन्नता ही क्या, और अप्रसन्नता ही क्या। प्रकृति के न कान हैं, न आँखें हैं। प्रकृति (शक्ति) तो एक बड़े भारी रथ के सदृश है, जो अपने असंख्य पहियों के नीचे संसार को घसीटकर घर्घर शब्द करती हुई बराबर चली जा रही है। उसका सहारा पाकर कौन चला जा रहा है, उसके नीचे दब कर कौन पिस गया, उसके ऊपर

आरूढ़ होकर कौन उत्सव मना रहा है और उसके नीचे पड़कर कौन चिल्ला रहा है—ये बातें उसे क्या मालूम। क्या उस प्रकृति-रथ का कोई हाँकनेवाला नहीं? संसार के निरपराधी, असहाय और भयभीत प्राणियों का रक्तपान कर कालरूपिणी निष्ठुर शक्ति देवी की तृष्णा का निवारण करना ही क्या मेरा काम है? क्यों? वह तो आप ही अपने काम को कर रही है। उसके पास दुर्भिक्ष है, बाढ़ है, भूकम्प है, जरावस्था है, महामारी है, अग्निदाह है और निर्दय लोगों के हृदय में हिंसात्मिका बुद्धि है। एतदर्थ मुझ क्षुद्र जीव की ज़रूरत ही उसे क्या है?"

उसके दूसरे दिन का प्रातःकाल बड़ा ही सुहावना हुआ। वर्षा ख़तम हो चुकी है। पूर्व दिशा में मेघ नहीं है। सूर्य्य की किरणें मानो जल से धुल कर और भी साफ़ हो गई हैं। वृष्टि के जल और सूर्य्य की किरणों से दसों दिशायें चमचमा रही हैं। सूर्य्य की स्वच्छ आनन्दप्रभा आकाश में, निराले मैदान में, वन में और नदी के प्रवाह में प्रफुल्ल श्वेत सहस्त्र दल कमल की तरह प्रस्फुटित हो उठी हैं। नीले आसमान में चीलें इधर उधर चक्कर लगा रही हैं। इन्द्र-धनुष के नीचे कतारबन्दी के साथ बगुले उड़ रहे हैं। गिलहरियाँ एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर दौड़ रही हैं। दो एक ख़रगोश एक झाड़ी के भीतर से निकल कर बड़ी भीरुता के साथ चकित हो

कर छिपने के लिए फिर कोई आड़ खोज रहे हैं। बकरी के छोटे छोटे बच्चे एक दुर्गम पहाड़ पर चढ़ कर घास की कोमल पत्तियाँ नोच नोच कर खा रहे हैं। गाय बैल आज बड़ी .खुशी में मगन होकर मैदान में चर रहे हैं। चरवाहे सब गा रहे हैं। बगल में घड़ा लेकर जाती हुई माँ के आँचल का छोर पकड़ कर बालक भी आज बाहर निकले हैं। वृद्ध मनुष्य पूजा के लिए फूल तोड़ रहे हैं। नदी में स्नान करने के लिए आज बहुत से लोग आकर एकत्र हुए हैं। वे सब परस्पर बात चीत कर रहे हैं। इधर नदी का भी कल कल शब्द बन्द नहीं है। आषाढ़ महीने में एक दिन अनन्त जीवों को धारण करनेवाली इस आनन्दमयी पृथ्वी की ओर निहारकर जयसिंह ने एक लंबी साँस ली और मन्दिर में प्रवेश किया।

जयसिंह मूर्त्ति की ओर देख और हाथ जोड़ कर बोले— "क्यों माँ, आज इस प्रकार नाराज़ क्यों? यदि एक दिन अपने जीव का रक्त सामने नहीं आया तो उसीसे क्या ऐसी टेढी भौंह! हमारे हृदय में प्रवेश करके अच्छी तरह देखो। क्या भक्ति की कुछ त्रुटि देखने में आती है? भक्तों का हृदय ग्रहण करके ही क्या तुम्हें सन्तोष नहीं होता जो निरपराधियों का रक्त चाहती हो? अच्छा माँ, सच सच कहो। धर्म के अवतार गोविन्दमाणिक्य को संसार से अलग करके इस देश में राक्षस का राजत्व स्थापन करना ही क्या तुम्हारा अभी

है ? तुमको राजरक्त ज़रूर चाहिए ? तुम्हारे श्रीमुख से उत्तर बिना पाये मैं राज-हत्या कभी न होने दूँगा और इस काम में बाधा डालूँगा। हाँ या ना, एक बात बोलो।"

एकाएक उस जनशून्य मन्दिर में शब्द हुआ "हाँ।" जयसिंह ने चौंक कर पीछे घूम कर देखा। कोई दिखाई नहीं दिया। किन्तु मन में ऐसा जान पड़ा कि जैसे किसी की छाया काँपती हुई निकल गई हो। उसे सुन कर पहले उन्होंने समझा कि जैसे वह उन के गुरु की आवाज़ है। फिर उन्हों ने मन में समझा कि देवी ने उनके गुरु के कण्ठस्वर के द्वारा ही आज्ञा दी है। सम्भव है, यही बात ठीक हो। परन्तु उस वाणी के सुनते ही उनके शरीर में रोमाञ्च हो आया। फिर जयसिंह ने माथा नवा कर मूर्ति को प्रणाम किया और वे शस्त्र लेकर मन्दिर से बाहर चले गये।

आठवाँ परिच्छेद

गोमती नदी के दक्षिण भाग में एक जगह बड़ा ही ऊँचा टीला है। वर्षा की धारा और छोटे छोटे सोतों ने इस उच्च भूमि को अनेक गढ़े खड्डों में विभक्त कर डाला है, वहाँ से कुछ दूर ठीक अर्धचन्द्र के आकार के बड़े बड़े पेड़ों ने इस भूमि-खण्ड को घेर रक्खा है। किन्तु इस टीले के बीच में बड़ा पेड़

एक भी नहीं है। कहीं कहीं उस टीले पर केवल साखू के छोटे छोटे पेड़ हैं जो बढ़ने नहीं पाते, काले हो कर झुके पड़े हैं। पत्थर के टुकड़े बहुतायत से इधर उधर बिखरे पड़े हैं। एक दो हाथ चौड़े सैकड़ों सोते टेढ़े मेढ़े रास्ते से घूमते फिरते आपस में मिल कर नदी में जा मिले हैं। यह जगह लोगों से बिलकुल ख़ाली है। उस टीले पर ऐसे वृक्ष नहीं हैं जो दृष्टि का अवरोध कर सकें। यहाँ से गोमती नदी और उसके दूसरे किनारे के चित्र विचित्र सुन्दर धानों के खेत इत्यादि बहुत दूर तक देख पड़ते हैं। गोविन्दमाणिक्य प्रतिदिन प्रातःकाल यहाँ टहलने आते थे। साथ में एक मुसाहब वा एक नौकर तक भी नहीं आता था। वे कभी कभी मछुओं को गोमती में मछली पकड़ते हुए दूर से देखते थे। उन लोगों की प्रसन्न मूर्ति को राजा योगी की तरह स्थिरभाव से आँख मूँद कर बैठ कर सोचते थे कि उन सबों के मुँह पर प्रभातकालिक तेज है वा उनकी आत्मा की ज्योति चमक रही है, कुछ उनकी समझ में न आता था। आजकल बरसात के सबब से वे हर रोज़ नहीं आ सकते थे किन्तु जिस दिन आसमान साफ़ रहता था उस दिन आते थे। परन्तु जब आते थे तब छोटे लड़के ताता को भी अपने साथ अवश्य लाते थे।

ताता को अब ताता नाम से पुकारने को जी नहीं चाहता। क्योंकि एकमात्र जिसके मुख से ताता सम्बोधन प्रिय

मालूम होता था सो अब इस संसार में नहीं है। पाठकों के निकट ताता शब्द का कोई अर्थ नहीं। किन्तु हासी जब प्रातःकाल साखू के जंगल में दुष्टता करके सखुए की आड़ में छिपकर अपने मधुर स्वर को कुछ तेज़ करके "ताता" कहकर पुकारती थी, इसी तरह उसके जवाब में पेड़ पेड़ पर से दाहियल पक्षी पुकार उठते थे और दूर के जंगल से प्रतिध्वनि लौट आती थी—"ताता"। तब वही ताता शब्द अर्थ से परिपूर्ण हो कर सारे जंगल में व्याप्त हो जाता था। तब वही ताता एक बालिका के छोटे से हृदय के अत्यन्त कोमल स्नेहरूपी घोंसले का परित्याग कर पक्षी की तरह स्वर्ग की ओर उड़ जाता था। तब वही एक स्नेह-संसिक्त मधुर सम्बोधन, समस्त पक्षियों के प्रातःकालीन कलरव को लूट लेता था और प्रभातकालिक प्रकृति की आह्लादमयी शोभा के साथ एक छोटी सी बालिका के आनन्दमय स्नेह की एकता कर दिखाता था। अब वह बालिका नहीं। है केवल वही एकमात्र बालक। किन्तु ताता नहीं। संसार के सहस्रशः लोगों के लिए सभी प्रकार अब वह बालक ही है। "ताता" केवल उस बालिका ही के लिए था।

महाराज गोविन्दमाणिक्य उस लड़के को "ध्रुव" कह कर पुकारते थे। हम भी अब उसे उसी नाम से पुकारेंगे।

महाराज पहले अकेले ही गोमती के किनारे आते थे. अब ध्रुव को अपने साथ लाते हैं। उसके पवित्र और स्वच्छ

मुख की शोभा में उन्हें देवलोक का प्रतिबिम्ब देख पड़ता है। मध्याह्न के समय जब राजा राज-काम में लगजाते हैं तब बड़े बड़े बुद्धिमान् वृद्धमन्त्री उनको घेर कर खड़े हो जाते हैं और उनको अपनी सलाह देते हैं। सुबह की कैफ़ियत यह कि एक छोटा लड़का उन्हें संसारचक्र से बाहर ले आता है। उसके उन दोनों बड़े बड़े प्रशान्त नयनों के आगे रागादि विषयों के सभी कौटिल्य संकुचित हो जाते हैं। लड़के का हाथ पकड़ कर मानो महाराज संसार के मध्यवर्ती दूर तक फैले हुए एक सीधे बृहत् राजमार्ग पर जा खड़े होते हैं। वहाँ से मानों उन्हें अन्तर्हित सुन्दर नीलाकाशरूपी चँदवे (शामियाने) के नीचे विपुल ब्रह्माण्ड की एक विस्तृत सभा देख पड़ती है। वहाँ से मानो भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक आदि सप्त लोकों के सङ्गीत की कुछ कुछ प्रतिध्वनि सुन पड़ती है। और उस सीधी सड़क में मानो सभी पदार्थ स्वच्छ और स्वभावतः सुन्दर जान पड़ते हैं। आगे बढ़ने ही का एक मात्र उत्साह होता है। तीव्र चिन्ता, विचार, रोग, शोक, सभी दूर हो जाते हैं। महाराज उस प्रभात में उस सन्नाटे के जंगल में, नदी के किनारे उस निर्बन्ध आकाश में एक बालक के प्रेम में डूबकर मानो अपार प्रेमसमुद्र का मार्ग देख रहे हैं।

गोविन्दमाणिक्य ध्रुव को गोदी में बैठा कर उसे ध्रुवोपाख्यान सुना रहे हैं। वह उसको कुछ ज़्यादा समझता है

सो नहीं, किन्तु राजा का मतलब यह कि ध्रुव के मुख से अर्ध स्फुटित स्वर में इस ध्रुवोपाख्यान को पुनर्वार सुनें।

कथा सुनते सुनते ध्रुव ने कहा—"मैं वन जाऊँगा।"

राजा—"वन क्या करने जाओगे?"

ध्रुव—"हलि (हरि) को देखने जाऊँगा।"

राजा—"हम तो हरि को देखने ही के लिए इस जंगल में आये हैं।"

ध्रुव—"हलि कहा हैं?"

राजा—"इसी जगह हैं।"

ध्रुव ने कहा—"बहन कहाँ है?" इतना कह कर वह उठ खड़ा हुआ और पीछे की तरफ़ घूम कर देखने लगा। उसके मन में ऐसा हुआ कि मानो उसकी बहन पहले की तरह एकाएक पीछे की तरफ़ से उसकी आँख मूँदने के लिए आ रही है। किसी को आता न देख उसने गर्दन झुका कर और आँखें उठा कर फिर राजा से पूछा—"बहन कहाँ है?"

राजा—"तुम्हारी बहन को हरि बुला कर ले गये हैं।"

ध्रुव—"हलि कहा हैं?"

राजा ने कहा—"ध्रुव, उनको पुकारो। मैंने जो वह गीत तुमको सिखाया था उसी को गाओ।"

ध्रुव झूम झूम कर गाने लगा।

हलि तुमको ढूलैां वन मांहीं।
मैं बालक अछ(स) हाय अकेला कोउ छँग में नाहीं।
छतिमिल (र) घोल गहन बिच घूमौं कतहुँ न पन्थ लखाहीं॥
कहा कलूँ केहि विपति छुनाऊँ लखों न तुअ पल छाही।
काल लात्ति कब आय तुलैहैं तेहि डल मन अकुलाही॥
लेहु उबालि ईच्छ अब तुम बिन ग्रौल न कोउ दलछाहीं।
ह्वैहैं कबहुँ कि विफल, नाथ हित नील म नयन छुखाहीं॥
जग जाहिल छुबि लेहि दयानिधि गहि भक्तन की बाँही।
छव प्रुकाल आछा है ताकी लाखनहाल छदाही॥
घोल अगाध अन्धकालहु में तुअ दूलि (ह्) ग गति दल खाँहीं।
तुम्हले भक्तन को अगम्य हूँ पन्थ छुगम ह्वै जाहीं।
ध्लु (ध्रु) व तुमको चाहत निछि बाछल तुम ध्लुव पै ललचाहीं।
जनसीदन चाहत तुमहीं को ग्रौर जाऊँ केहि पाहीं॥

"र" को "ल" से ग्रौर "स" को "छ" से उलट पलट कर अर्थात् "र" की जगह 'ल' ग्रौर 'स' की जगह 'छ' का उच्चारण करके ग्रौर कुछ मुँह के भीतर ही रख अधबोलिये का प्रत्यक्ष उदाहरण होकर ध्रुव झूम झूम कर अपने अमृतमय स्वर में इस गीत को पढ़ गया। जिसे सुन कर राजा का मन आनन्द में मग्न हो गया। उस दिन का भोर ग्रौर दिनों से दूना प्रिय हो उठा। चारों तरफ़ नदी, वन, वृक्ष ग्रौर लतायें

हँसने लगीं। उन (गोविन्दमाणिक्य) को सूर्य की सुनहरी किरणरूपी अमृत से सींचे हुए स्वच्छ आकाश में किसी के अनुपम सुन्दर सहास्य मुख की शोभा देख पड़ी। ध्रुव जिस प्रकार उनकी गोद में बैठा है ठीक उसी तरह माने उनको भी किसी ने दोनों बाहों के बीच अपनी गोद में उठा लिया। उन्होंने अपने को, अपनी चारों ओर के रहने वालों को और सांसारिक सभी चेतन जड़ पदार्थों को किसी की गोद में बैठे देखा। उनके प्रेम और आनन्द ने सूर्य की किरणों की तरह दशों दिशायें भर दीं। चारों ओर प्रेम और आनन्द ही दिखाई देने लगे। ऐसे समय में हथियार धारण किये जय-सिंह गुफा के रास्ते से एकाएक राजा के सामने आकर खड़े हुए। राजा ने दोनों हाथ बढ़ा कर कहा—"आओ जयसिंह, आओ।" राजा उस समय लड़के के साथ मिल कर बिलकुल लड़के से हो रहे हैं। अभी उनकी राज-मर्यादा कहाँ। जयसिंह ने धरती में माथा टेक कर राजा को प्रणाम किया। राजा प्रत्यभिवादन कर बोले—"जयसिंह, तुम भी तो मेरे प्रणम्य हो। तुम्हारा जन्म राज-कुल में है। तुम क्षत्रिय हो।

जयसिंह—"महाराज, मेरी एक प्रार्थना है।"

राजा—"क्या ? बोलो।"

जयसिंह—"देवी आपके ऊपर नाराज़ हुई हैं।"

राजा—"क्यों, मैंने उनकी नाराज़गी का क्या काम किया है?"

जय०—"महाराज, आपने बलिदान बन्द करके देवी की पूजा में बाधा डाली है।"

राजा बोल उठे—"क्यों जयसिंह, इस हिंसा की इतनी तृष्णा क्यों? आज ऐसे सुन्दर सुहावने प्रातःकाल में हिंसा का यह उत्कट उफान क्यों? विचार कर देखो, जगन्माता देवी की गोद में संसार के सभी जीव-जन्तु क्या ही आराम के साथ बेख़ौफ़ टहलते फिर रहे हैं। इस गोद में भय, शोक और हाहाकार मचा कर और इसी माता के अङ्क में सन्तान का रक्त बहा कर तुम माता को प्रसन्न करना चाहते हो। संसार की शान्ति भङ्ग करने के लिए इतनी अभिलाषा क्यों? हिंसारूपी विष कण्टक वृक्ष की जड़ में जीवगणों का लोहू डाल कर यत्नपूर्वक उसे क्यों बढ़ा रहे हो? हाय! हाय! दयारूपी कल्प-वृक्ष कहाँ गया! प्रेमरूपी पारिजात क्या हुआ!"

जयसिंह धीरे धीरे राजा के पाँव के पास आकर बैठे।

ध्रुव उनकी तलवार लेकर देखने लगा।

जयसिंह ने कहा—"क्यों महाराज, शास्त्र में तो बलिदान की व्यवस्था है।"

राजा ने कहा—"यथार्थ रीति से शास्त्र की आज्ञा का पालन कौन करता है। सब लोग अपनी अपनी रुचि के

अनुसार शास्त्र का उपपादन करते हैं। जिस समय देवी के सामने सहायहीन कातर प्राणियों का बलिदान होता है; जिस समय उस बलि के रक्तमयपङ्क से सारे शरीर को लिप्त कर सब लोग बड़े ज़ोर से चिल्ला चिल्ला कर भयानक उल्लास के साथ ताण्डवलीला प्रारम्भ करते हैं, उस समय क्या वे देवी की पूजा करते हैं? नहीं अपने हृदय में जो हिंसारूपिणी राक्षसी है उसी राक्षसी की पूजा करते हैं। उसी राक्षसी को लोहू पिला कर उसे पुष्ट करते हैं। हिंसा राक्षसी के निकट जीवों का बलिदान देना शास्त्र की आज्ञा नहीं है। बल्कि हिंसा का ही बलि देना शास्त्र की आज्ञा है। "अहिंसा परमो धर्मः।"

जयसिंह बड़ी देर तक चुप रहे। कल रात से उनके मन में भी इस प्रकार की बहुत बातें उठ रही हैं। आख़िर बोले—"मैंने साक्षात् देवी के मुँह से सुना है, इसलिए इस विषय में अब और कोई सन्देह नहीं हो सकता। उसने स्वयं कहा है कि "मैं महाराज का रक्त चाहती हूँ।" यह कह कर जयसिंह ने प्रातःकाल की जो घटना मन्दिर में हुई थी वह राजा को कह सुनाई।

राजा हँस कर बोले—"यह देवी का कथन नहीं। यह रघुपति का ही कथन जानना चाहिए। रघुपति ही ने भीतर छिप कर तुम्हारी बात का उत्तर दिया है।

राजा की इस बात को सुन कर जयसिंह एक दम चौंक उठे। उनके मन में भी इस प्रकार का सन्देह एक बार धक से हो उठा था किन्तु बिजली की तरह वह फिर तुरत ही विलीन हो गया। राजा की बात सुन उस सन्देह का धक्का फिर कलेजे में लगा। जयसिंह बड़े ही अधीर होकर बोले— "नहीं महाराज, मेरे सन्देह को मत बढ़ाइए। किनारे से धकेल कर बीच समुद्र में मुझे मत फेंकिए। आपकी बात से तो मेरे चारों तरफ़ और अन्धकार ही बढ़ रहा है। मेरा जो विश्वास था, मेरी जो भक्ति थी, वही रहे। इसके परिवर्तनार्थ मैं इस कुहरे में पड़ना नहीं चाहता। देवी की आज्ञा हो, चाहे गुरु की आज्ञा हो, वह एक ही बात हुई। मैं उसका अवश्य पालन करूँगा।" यह कह कर जयसिंह वेग से उठ खड़े हुए और उन्होंने अपनी तलवार निकाल ली। सूर्य्य की किरण में तलवार बिजली की तरह चमकने लगी। जिसे देख ध्रुव ज़ोर से रो उठा और राजा की देह में लिपट कर अपने दोनों छोटे हाथों से प्राण अर्पण कर यथासम्भव उनको छिपाया। राजा ने जयसिंह की ओर कुछ ध्यान न देकर ध्रुव को ही अपनी छाती से लगा रक्खा।

जयसिंह ने तलवार को दूर फेंक दिया और ध्रुव की पीठ पर हाथ फेर कर कहा—"कोई डर नहीं। बच्चा कोई डर नहीं। देखो मैं यह जाता हूँ। तुम इनकी उदार-छाया में रहो। इनके

विशाल हृदय में विराजो। तुमको कोई जुदा न करेगा।" यह कह कर और राजा को प्रणाम करके जयसिंह चलने को उद्यत हुए। हठात् कुछ विचार कर फिर लौटे और बोले—"महाराज को सावधान किये देता हूँ। आपके भाई नक्षत्रराय ने आपको इस संसार से उठा देने की बात ठहराई है। आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी की रात को देव-पूजा होगी। उस दिन आप सावधान रहिएगा।

राजा ने हँस कर कहा—"नक्षत्र किसी तरह मेरी हत्या न कर सकेगा। वह मुझ पर प्रेम रखता है।" जयसिंह चले गये।

राजा ध्रुव की ओर देख कर बड़ी श्रद्धा के साथ बोले—"आज तुम्हीं ने रक्तपात से धरती को बचाया है। इसी अभिप्राय से तुम्हारी बहन तुमको मेरे पास रख गई है।" यह कह कर राजा ने ध्रुव के गालों पर जो आँसू की धारा बह चली थी उसे पोंछ डाला। ध्रुव ने फिर भोलेपन से कहा—"बहन कहा है ?"

इसी समय मेघ ने घिर कर सूर्य्य को ढक लिया। नदी के ऊपर काली घटा की छाया पड़ने लगी। वन का दूरवर्ती प्रान्त मेघ ही की तरह श्यामल हो उठा। पानी बरसने का लक्षण देख कर राजा राजभवन में लौट आये।

नवाँ परिच्छेद

मन्दिर बहुत दूर नहीं है। किन्तु जयसिंह नदी के निर्जन घाट पर घूम फिर कर धीरे धीरे मन्दिर की तरफ़ चले। उन के मन में बड़ी ही चिन्ता होने लगी। वे नदी के किनारे एक पेड़ के नीचे किसी जगह बैठ गये और दोनों हाथों से अपने मुँह को ढककर सोचने लगे—"एक काम तो मैंने करडाला, पर तो भी सन्देह चित्त से नहीं जाता। आज से मेरे सन्देह का निवारण कौन करेगा? क्या अच्छा है, क्या बुरा है, सो आज से मुझे कौन समझावेगा। संसार के सैकड़ों करोड़ों रास्तों के मुहाने पर खड़े होकर किससे पूछूँगा कि कौन रास्ता ठीक है। इस अद्भुत मैदान में मैं अन्धवत् खड़ा हूँ। आज मेरे सहारे की लाठी टूट गई।"

जयसिंह जब वहाँ से उठ चले तब कुछ कुछ पानी पड़ना शुरू हो गया था। वर्षा में भीगते भीगते वे मन्दिर की तरफ़ चले गये। उन्होंने रास्ते में देखा कि बहुत से लोग झुँड बाँधे शोर-गुल करते मन्दिर की तरफ़ से चले आ रहे हैं।

बूढ़ा बोलता है—"बाप-दादे के वक़्त से तो यही होते-चला आता है। न मालूम राजा की अक़्ल आज ऐसी क्यों होगई जो उन सब बातों को बिलकुल उठा दिया।"

एक जवान आदमी कहता है —"अब मन्दिर में जाने की इच्छा नहीं होती। पूजा का अब वह समारोह कहाँ।

किसी ने कहा—"माना यह नवाब की अमलदारी हो पड़ी। इसका मतलब यही कि बलिदान की निसबत मुसलमानों ही के मन में द्विधाभाव उत्पन्न हो सकता है। किन्तु हिन्दू के मन में भावान्तर होना आश्चर्य है।

औरतें सब बोलने लगीं—"इस राज्य का अब कल्याण नहीं होगा।

एक ने कहा—"पुजारी जी ने स्वयं कहा है कि देवी ने स्वप्न में उनसे कहा है—"तीन महीने के अन्दर यह देश महामारी से ऊजड़ हो जायगा।"

ललिता ने कहा—"इस बात को क्यों नहीं देखती। माधो डेढ़ बरस से रोगी होकर भी बचा चला आता था। बलि बन्द होते ही वह मरगया।"

शान्ता बोल उठी—"वही क्यों, मेरे जेठ के लड़के को कौन जानता था कि वह मर जायगा। क्या वह मरने लायक़ था? जैसेही कविराज की गोली खाई वैसेही उसकी आखें उलट गईं।" उस लड़के के शोक से और देश का अशुभ होने के डर से शान्ता अधीर हो पड़ी।

तीनकौड़ी ने कहा—"उस दिन मधुर हाटी के बाज़ार में आग लगी, एक घर का भी छप्पर नहीं बचा।"

चिन्तामणि किसान ने अपने साथी एक किसान से कहा—"बहुत कहने से क्या, देखते क्यों नहीं। इस साल जैसा सस्ता धान हुआ है, वैसा और किसी साल नहीं हुआ था। इस साल किसानों के नसीब में क्या बदा है, कौन जाने।"

बलिदान बन्द होने के बाद और इसके पहले भी जिसको जो कुछ हानि हुई थी, उसका सब की सलाह से बलिदान बन्द होनाही एकमात्र कारण निर्दिष्ट हुआ। इस देश को त्यागकर अब अन्यत्र जाना ही भला है। ऐसा ही सबका विचार हुआ। पर इस विचार से कुछ हुआ नहीं। कोई देश त्याग करके कहीं न गया। जो जहाँ था वहीं रहा।

जयसिंह का चित्त ठिकाने न था। अतएव इन सब बातों पर कुछ विशेष ध्यान न देकर वे बराबर मन्दिर में जा उपस्थित हुए। देखा कि रघुपति पूजा समाप्त करके मन्दिर के बाहर बैठे हैं। जयसिंह ने बड़ी लम्बी लम्बी डिग से रघुपति के पास जाकर अधीर स्वर में पूछा,—"गुरुदेव, देवी की आज्ञा पाने की इच्छा से आज सबेरे जब मैंने देवी से प्रार्थनापूर्वक प्रश्न किया था तब उसका उत्तर आपने क्यों दिया?"

रघुपति कुछ इधर उधर करके बोले—"देवी तो मेरे ही द्वारा अपने कथन का प्रचार करती है। वह अपने मुँह से तो कुछ बोलती नहीं।"

जयसिंह ने कहा—"आप सामने आकर क्यों नहीं बोले। आप ने भीतर छिपकर मुझे क्यों ठगा ?"

रघुपति रुष्ट हो कर बोले—"चुप रहो। मैं क्या सोचकर कौन काम करता हूँ उसे तुम क्या समझोगे ? वाचाल की तरह जो मुँह में आवे उसेही मत बका करो। मैं जो कुछ आज्ञा दूँ तुम उसी का पालन करो, और कोई बात मत पूछो। जयसिंह चुप हो रहे। उनका सन्देह और भी बढ़ गया। थोड़ी देर के बाद बोले—"आज सवेरे मैंने देवी से कहा कि यदि वह अपने मुँह से कुछ आज्ञा न देगी तो राजहत्या की घटना मैं कभी न होने दूँगा। उस काम में बाधा डालूँगा। जब मैंने निश्चय करके जाना कि देवी कुछ आदेश नहीं करती तब मैंने महाराज के निकट नक्षत्रराय की प्रतिज्ञा ज़ाहिर करके उन्हें सावधान कर दिया।"

रघुपति कुछ देर तक चुप बैठे रहे—"फिर अपने बेहद ग़ुस्से को दबा कर उच्च स्वर में बोले—"मन्दिर के भीतर चलो," दोनों मन्दिर के भीतर चले गये।

रघुपति ने कहा—"भगवती का पाँव छूकर शपथ करो और कहो कि आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी को राजरक्त ला कर इन चरणों में उपहार दूँगा।"

जयसिंह सिर झुका कर कुछ देर तक चुप रहे। इसके बाद एक बार गुरु के मुँह की ओर और एक बार मूर्ति की ओर सिर उठाकर देखा, फिर देवी की मूर्ति का स्पर्श करके धीरे धीरे बोले—"आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी को राजरक्त लाकर इन चरणों में उपहार दूँगा।"



दसवाँ परिच्छेद

राज-भवन में आकर महाराज ने राज्य के मामूली कामों को समाप्त करके छुट्टी पाई। मेघ घिर आने से फिर अँधेरा छा गया। महाराज का मन बड़ा ही उदास है। और दिन नक्षत्रराय दरबार में उपस्थित रहते थे आज वे भी हाज़िर न थे। राजा ने उनको बुला भेजा। उन्होंने आने में आपत्ति करके कहला भेजा कि हमारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है। राजा स्वयं नक्षत्रराय के पास गये। नक्षत्रराय ने सिर उठा कर राजा की ओर देखा तक नहीं। एक लिखा हुआ काग़ज़ हाथ में लेकर ऐसे बन गये कि मानो किसी गहरी चिन्ता में व्याकुल हैं।

राजा ने कहा—"नक्षत्र, क्या तुम्हारी तबीयत कुछ ख़राब है ?"

नक्षत्रराय काग़ज़ की कभी एक पीठ कभी दूसरी पीठ उलटते पलटते हाथ की उँगली की ओर देख कर बोले—"ख़राब ! नहीं ख़राब तो कुछ नहीं, यही एक ज़रूरी काम था—हाँ, हाँ, ख़राब भी हो गई थी, कुछ ख़राब ही की तरह, सच है।"

नक्षत्रराय अत्यन्त अधीर हो उठे। गोविन्द माणिक्य बहुत उदास-मुँह से नक्षत्र के मुँह की ओर देखने लगे और मन ही मन कहने लगे—"हाय हाय ! स्नेह के घर में भी हिंसा ने प्रवेश किया है। वह साँप की तरह छिप कर रहना चाहती है, पर मुँह दिखलाना नहीं चाहती। हम लोगों के जंगल में क्या जीव-हिंसक जन्तु काफ़ी नहीं हैं" ? तो क्या अब मनुष्य भी मनुष्य को देख कर डरेगा ? क्या भाई भी भाई के पास निर्भय होकर नहीं रहने पावेगा ? यही मेरे भाई हैं। इन्हीं के साथ नित्य एक घर में रहता हूँ; एक आसन पर बैठता हूँ; प्रसन्न-मुख से बात करता हूँ। किन्तु ये मेरे पास रह कर मेरे ही निमित्त मन के भीतर छुरी पर सान दे रहे हैं। गोविन्द-माणिक्य के निकट उस समय यह संसार हिंस्रक जन्तुओं से भरे हुए जंगल के सदृश ज्ञात होने लगा। निविड़ अन्धकार के बीच चारों तरफ़ केवल दाँत और तीक्ष्ण नखों की शोभा

दिखाई देने लगी। ज़ोर से साँस लेकर महाराज ने अपने मन में सोचा—"मैं इस प्रेम-भाव-विहीन हानि-कारक राज्य में बच कर अपने जाति-भाइयों के मन में केवल हिंसा, लोभ और शत्रुता की आग भड़का रहा हूँ। मेरे सिंहासन को चारों ओर मेरे प्राण से भी अधिक प्रिय आत्मीयगण मेरी ओर देख कर मन ही मन मुँह टेढ़ा करते हैं, दाँत पीसते हैं और ज़ंजीर में बँधे हुए भयङ्कर कुत्तों की तरह चारों तरफ़ से मेरे ऊपर टूट पड़ने के हेतु मौक़ा ढूँढ़ रहे हैं। इन लोगों के तीव्र नखा-घात से छिन्न भिन्न होने की अपेक्षा और इन लोगों की रक्त-पिपासा निवृत्त करने की अपेक्षा यहाँ से कहीं अन्यत्र चला जाना ही बेहतर है।" भोर के समय आकाश में गोविन्द-माणिक्य ने जो प्रेम-प्रसन्न मुँह की शोभा देखी थी वह इस समय कहाँ छिप गई।

महाराज उठ खड़े हुए और गम्भीर-भाव से बोले—"नक्षत्र, आज तीसरे पहर हम तुम दोनों गोमती के किनारे निर्जन वन में घूमने जायँगे।"

राजा के इस गहरे भाव से भरी हुई आज्ञा के विरुद्ध नक्षत्र के मुँह से कोई बात नहीं निकली। किन्तु अनेक प्रकार के सन्देह और शङ्काओं से उनका दिल घबरा उठा। उनके मन में यों तरङ्गें उठने लगीं—"महाराज, इतनी देर तक स्थिर भाव से मेरे ही मन की तरफ़ दृष्टि गड़ा कर बैठे थे। उनके

दिल में जो सब ख़यालात अँधेरे गढ़े के भीतर कीड़ों की तरह खलबला रहे थे वे सब मानो प्रकाश देख एकाएक चञ्चल होकर उस जगह बाहर निकल पड़े। डरते डरते नक्षत्रराय ने राजा के मुँह की ओर एक बार देखा, उनके मुँह पर गहरी उदासी के साथ शान्ति-भाव छाया है, किन्तु उसमें क्रोध का लेश तक नहीं। केवल मनुष्य के हृदय की कठोरता और क्रूरता देख कर उनके मन में अगाध शोक व्याप रहा था।

वह समय आ पहुँचा। अभी तक आसमान में बादल छा रहे हैं। नक्षत्रराय को साथ लेकर महाराज पैदल ही जंगल की तरफ़ चले। अभी शाम होने में कुछ देरी है किन्तु मेघ-कृत अन्धकार से साँझ हो जाने का भ्रम हो रहा है। कौए जंगल के बीच इधर उधर से आकर बेतरह काँव काँव कर रहे हैं। दो एक चीलें अब भी आसमान में चक्कर लगा रही हैं। दोनों भाइयों ने जब निविड़ वन में प्रवेश किया तब नक्षत्र-राय का शरीर थरथराने लगा। बड़े बड़े पुराने पेड़ जटिल होकर खड़े हैं, वे कुछ बोलते नहीं। पर स्थिरभाव से चींटी के चलने का शब्द तक भी सुन लेते हैं। वे केवल अपनी छाया की तरफ़ और अपने नीचे अन्धकार की तरफ़ टकटकी लगाये देख रहे हैं। इस जटिल रहस्यमय जंगल के भीतर नक्षत्रराय आगे चलना चाहते हैं पर पाँव नहीं उठता। चारों तरफ़

अगाध शान्तिभाव का भ्रूभङ्ग देख उनका दिल धड़कने लगा। नक्षत्रराय को बड़ा ही सन्देह और डर पैदा हुआ। भयङ्कर अदृष्ट की तरह राजा चुप चाप इस शाम के वक़्त इस पृथ्वी के बीच से उन्हें कहाँ लिये जा रहे हैं इसका कुछ भी पता उन्हें नहीं लगा। मन में समझा कि वे राजा के पास गिरफ़्तार हो गये। और सर्वदा के लिए शान्ति देने ही के लिए राजा उन्हें इस वन में ले आये हैं। नक्षत्रराय अब एकदम भगने पाते तो बच जाते, परन्तु उन्हें जान पड़ता था कि जैसे कोई उनके पाँव बाँध कर खींचे लिये जा रहा है। अब उनकी रक्षा का और कोई उपाय नहीं।

जङ्गल में कितनी ही जगह ख़ाली पड़ी है। उसमें एक प्राकृतिक झील की तरह है, जो बरसात में पानी से भर जाती है। उसी झील के अन्दर सूखी ज़मीन पर टहल फिर कर एकाएक खड़े होकर राजा ने कहा—"ठहरो"।

नक्षत्रराय चौंक कर खड़े हो गये। उनके मन में आया कि राजा की यह आज्ञा सुन कर मानो उस समय काल की गति रुक गई। उसी समय मानो जंगल के जो वृक्ष थे झुक कर खड़े हो गये। नीचे पृथ्वी और ऊपर आकाश मानो साँस रोक कर स्थिर भाव से देखने लगे। कौओं का कोलाहल बन्द हो गया। वन में बिलकुल सन्नाटा छा गया। एक भी शब्द कहीं सुनाई नहीं देता। केवल वही "ठहरो"। यह शब्द

मानो बिजली की गति से पेड़ पेड़ पर, डाल डाल पर सर्वत्र व्याप्त हो गया। जंगल के एक एक कर सभी पत्ते मानो उसी शब्द का धक्का खा कर खड़खड़ाने लगे। नक्षत्रराय भी मानें दरख़्त की तरह स्थिरभाव से खड़े हो गये।

तब राजा नक्षत्रराय के मुँह की तरफ़ अपनी मर्मान्तिक विषादयुक्त दृष्टि स्थिर करके निश्छल भाव से बोले—"नक्षत्र, तुम मुझको मारना चाहते हो?"

नक्षत्र वज्राहत की तरह खड़े रहे। जवाब तक देने का उनको होश न रहा।

राजा ने कहा—"भाई, मुझे क्यों मारोगे? राज्यही के लोभ से न? क्या तुम अपने मन में सोचते हो कि राज्य केवल सोने के सिंहासन, हीरे के मुकुट और राजच्छत्र में ही धरा है? इस मुकुट, इस राजच्छत्र और इस राज-दण्ड का बोझ कितना है, जानते हो? लाखें मनुष्यें की चिन्ता इसी हीरे के मुकुट से ढकी हुई है। अगर राज्य पाना चाहते हो तो हज़ारों मनुष्यों के दुख को अपना दुख समझो, हज़ारें की विपत्ति अपनी विपत्ति जान कर स्वीकार करो। हज़ारें लोगें की दरिद्रता को अपनी दरिद्रता मान कर उसे माथे चढ़ाओ। ऐसा जो कर सके वही यथार्थ में राजा है। वह झोपड़ी में रहे चाहे महल में, जो व्यक्ति सब लोगें को अपना करके जानता है, वे सभी लोग उसी के हैं। उसके ऐश्वर्य को, उसकी प्रतिष्ठा

को और उसके सुख को असंख्य सेना लाकर भी कोई अपहरण नहीं कर सकता। पृथ्वी के दुःख का जो नाश करे वही पृथ्वी का राजा है। किन्तु पृथ्वी की सम्पत्ति और लोहू को जो चूसता है वह तो डाकू है—हज़ारों अभागियों के आँसू की धारा उसके माथे दिन रात बरसा करती है। उस अभिशाप की तीक्ष्ण धारा से कोई इतना बड़ा राजच्छत्र नहीं जो उसकी रक्षा कर सके। उसके अधिकाधिक राज-भोग के भीतर सैकड़ों भूके लोगों की क्षुधा जा जाकर छिपी है। वह असहाय लोगों की दरिद्रता गलाकर उसी सोने का भूषण बना कर पहनता है। उसके धरती तक फैले हुए राजवस्त्र के भीतर सैकड़ों जाड़े से व्यथित लोगों के मैले फटे चीथड़े घुसे हैं। भाई, राजा को मार डालने ही से किसी को राज्य नहीं मिलता। पृथ्वी को वश करके राजा होना अच्छा लगता है।

गोविन्दमाणिक्य इतना कह कर चुप हो गये। नक्षत्रराय सिर झुका कर चुप चाप खड़े रहे।

महाराज ने म्यान से तलवार निकाली और नक्षत्रराय के आगे रखकर कहा—"भाई, इस जगह कोई आदमी नहीं, कोई साक्षी नहीं। यदि भाई के कलेजे में भाई छूरी मारना चाहे तो उसके लिए यही उपयुक्त जगह है और यही ठीक समय है। इस जगह कोई तुम्हारी निन्दा न करेगा। तुम्हारी और मेरी नाड़ी में एक ही ख़ून बह रही है। एक ही माता-

पिता, एक ही दादे-परदादे का लोहू मेरे और तुम्हारे शरीर में संचालित हो रहा है। तुम उसी लोहू को बरबाद करना चाहते हो। किन्तु ऐसा काम मनुष्यों के रहने की जगह में न करो। क्योंकि उस जगह इस लोहू का छींटा पड़ेगा। उस जगह भी गुप्त रीति से भ्रातृ-भाव का पवित्र बन्धन ढीला पड़ जायगा। पाप का अन्त कहाँ जाकर होता है इसे कौन जाने। पाप का एक भी बीज किसी जगह पड़ जाय तो उसके छिपाने की अनेक चेष्टा करने पर भी देखते देखते वहाँ हज़ारों पेड़ उत्पन्न हो जाते हैं। मनुष्यों का यह अति सुन्दर समाज धीरे धीरे किस तरह जंगल में मिल जाता है, उसे कोई नहीं जान सकता। अतएव शहर में, देहात में, जहाँ निश्छल और निःशङ्कभाव से भाई भाई को प्यार करते हों ऐसे भाइयों के प्रेमावास में भाई का ख़ून न करोगे, इसी लिए आज तुमको मैं इस जंगल में बुला लाया हूँ।" यह कह कर राजा ने नक्षत्रराय के हाथ में तलवार उठा कर दे दी। नक्षत्रराय के हाथ से तलवार नीचे गिर पड़ी।

नक्षत्रराय दोनों हाथों से अपने मुँह को छिपा कर रो उठे और रुद्धकण्ठ से बोले—"भाई जी, मैं अपराधी नहीं हूँ। मेरे मन में इस तरह की भावना कभी उत्पन्न नहीं हुई।"

राजा उनको गले लगाकर बोले—"सो मैं जानता हू। तुम क्या कभी मेरा बध कर सकते हो। मैं जानता हूँ तुमको

चंद लोगों ने बुरी सलाह दी है। इसमें तुम्हारा दोष नहीं है।

नक्षत्रराय—"और कोई नहीं, केवल रघुपति मुझको यह उपदेश देते हैं।"

राजा—"रघुपति से दूर रहो।"

नक्षत्र—"आप बता दीजिए, मैं कहाँ जाऊँ। मैं अब यहाँ रहना नहीं चाहता। मैं अब इस जगह से ही भागना चाहता हूँ।

राजा—"तुम बराबर मेरे ही पास रहो, और कहीं मत जाओ। रघुपति तुम्हारा क्या करेंगे।"

नक्षत्रराय ने राजा का हाथ ख़ूब ज़ोर से पकड़ा। मानो उन्हें रघुपति खींच कर ले जायँगे। इसी का डर हो रहा है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

जब नक्षत्रराय राजा का हाथ पकड़े हुए जंगल से घर लौटे आ रहे थे, तब भी आकाश से कुछ कुछ प्रकाश आ रहा था, किन्तु जंगल के अधोभाग में ऐसा अधिक अँधेरा हो गया था कि मानो अन्धकार का बाढ़ आया है। अब केवल पेड़ों के ऊपर का हिस्सा नज़र आता है। कुछ देर में वह भी छिप

जायगा। तब अन्धकार पूर्ण रूप से व्याप्त होकर धरती और आकाश को एक कर देगा।

राजा राज-भवन के रास्ते न जाकर मन्दिर की ओर गये। मन्दिर की सन्ध्या आरती करके रघुपति और जयसिंह घर में एक चिराग़ बाल कर बैठे हैं। दोनों ही गम्भीर-भाव से अपने अपने मन की बात सोच रहे हैं। चिराग़ की धुँधली रोशनी में सिर्फ़ उन दोनों के मुँह की परछाहीं दीख रही है। नक्षत्रराय रघुपति को देख कर उनके सामने अपना मुँह नहीं कर सके। राजा की परछाहीं में अपने को छिपा कर वे धरती की ओर देखने लगे। राजा ने उनको अपने पास खींच कर मज़बूती के साथ उनका हाथ पकड़ कर खड़ा किया। और स्थिर दृष्टि से एक बार रघुपति के मुँह की ओर देखा। रघुपति ने नक्षत्रराय के ऊपर तीव्र दृष्टि से कटाक्ष-पात किया। इसके बाद राजा ने रघुपति को प्रणाम किया। नक्षत्रराय ने भी राजा का अनुसरण किया। रघुपति प्रणाम स्वीकार करके गम्भीर स्वर में बोले—"जय हो महाराज! राज्य में तो कुशल है?"

राजा कुछ ठहर कर बोले—"आप आशीर्वाद दीजिए कि जिसमें राज्य का कोई अशुभ न हो। इस राज्य में जगदम्बा की सन्तानें आपस में मेल-मिलाप और प्रेम-भाव से रहें। इस राज्य में भाई के पास से कोई भाई को बहका

कर न ले जाय । जहाँ प्रेम है वहाँ कोई हिंसा की नीव न डाले । मैं राज्य के अशुभ का भय मान कर ही यहाँ आया हूँ । पाप सङ्कल्प के संघर्षण से दावाग्नि जल उठती है। आप उसको शान्त कीजिए । प्रेमरूपी जल की वर्षा कीजिए। पृथ्वी को ठंडी कीजिए।"

रघुपति बोले—"देवता की क्रोधाग्नि भड़क उठने पर कौन उसे शान्त कर सकता है ? एक अपराधी के कारण हज़ारों बेक़सूर आदमी उस आग में जल कर भस्म हो जाते हैं।"

राजा—"इसी बात का तो अधिक डर है। इसीसे तो मैं काँप रहा हूँ । उस बात को समझ कर भी कोई क्यों नहीं समझता । आप क्या नहीं जानते—इस राज्य में देवता का नाम लेकर देवता के नियम का भङ्ग किया जा रहा है। इसीके चलते अशुभ का सन्देह करके आज शाम को यहाँ आया हूँ । इस जगह पाप का पेड़ लगा कर मेरे इस धन-धान्य-युक्त सुख के राज्य में आप देवता के कोपरूपी वज्र को आह्वान करके न ले आवें। आपको यही बात कहनी थी और ख़ास यही कहने के लिए मैं आज यहाँ आया हूँ ।" यह कह कर महाराज ने रघुपति के मुँह पर मर्मछेदनी दृष्टि डाली। राजा के मुँह से निकली हुई वह बुलन्द आवाज़ घिरी हुई चक्कर-दार हवा की भाँति उस घर में गूँजने लगी। रघुपति से कुछ

उत्तर देते न बना। वे जनेऊ हाथ में लेकर काँपने लगे। राजा उन्हें प्रणाम करके नक्षत्रराय का हाथ पकड़ कर बाहर आये। उस घर में रह गया केवल एक चिराग़, रघुपति और रघुपति की एक लम्बी छाया।

इस समय आकाश में प्रकाश का कहीं नाम नहीं। मेघ ने तारागणों को छिपा रक्खा है। उस भयङ्कर अन्धकार में पुरवा की लहर में कहीं से आती हुई कदम्ब-फूल की सुगन्धि पाई जाती है। और जङ्गल के वृक्षों का मर्मर शब्द सुनाई देता है। चिन्ता में डूबे हुए राजा परिचित सड़क से वेधड़क चले जा रहे हैं। उन्होंने एकाएक सुना—किसी ने पीछे से "महाराज" कह कर पुकारा है।

राजा ने पीछे की ओर घूम कर पूछा—"तुम कौन हो?"

परिचित कण्ठ ने कहा—"मैं आपका अधम दास जयसिंह हूँ। महाराज, आप मेरे गुरु और मेरे मालिक हैं। आपके सिवा मेरे और कोई नहीं। जैसे आप अपने छोटे भाई को हाथ पकड़े इस अँधेरे में लिये जा रहे हैं तैसे ही मेरा भी हाथ पकड़ लें, मुझको भी अपने साथ लेते चलें। मैं अत्यन्त घोर अन्धकार में पड़ा हूँ। क्या करने से अच्छा और क्या करने से बुरा होगा, यह मैं कुछ भी नहीं जानता। मैं कभी बाईं तरफ़ जाता हूँ कभी दाहनी तरफ़। मेरा पार करनेवाला कोई नहीं। उस अँधेरे में जयसिंह की आँखों से आँसू गिरने

लगा पर किसी ने उसे देखा नहीं। केवल उद्वेग से भरा हुआ, जयसिंह का करुणोत्पादक स्वर काँपते काँपते राजा के कानों में प्रवेश करने लगा। जैसे हवा का धक्का खा कर समुद्र चञ्चल होकर काँपने लगता है वैसे ही वह गम्भीर घोर अन्धकार जयसिंह के आर्त स्वर का धक्का खा कर काँपने लगा। राजा जयसिंह का हाथ पकड़ कर बोले—"चलो, मेरे साथ राज-भवन को चलो।"

बारहवाँ परिच्छेद

उसके दूसरे दिन जब जयसिंह मन्दिर में लौट आये तब पूजा का समय बीत गया था। रघुपति उदास मुँह किये अकेले बैठे हैं। इसके पहले इस प्रकार पूजा में कभी नियम-भङ्ग नहीं हुआ था।

जयसिंह गुरु के पास न जाकर सीधे अपने बाग़ में गये। वहाँ आप एक झुरमुट के भीतर जा बैठे। उनके चारों तरफ़ वे सब पेड़ पौधे हिलने डुलने लगे और छाया को नचाने लगे। उनके चारों तरफ़ फूलों से गुथे हुए पत्तों के गुच्छ, हरे हरे झालरदार पत्तों के ऊपर पत्तों की झालरें, छाया परि-पूर्ण सुन्दर कोमल स्नेह का आच्छादन, सुमधुर आकर्षण, प्रकृति का प्रीतिपूर्वक सम्मिलन! इस जगह ये सब उनकी

अपेक्षा करते हैं, पर कुछ पूछते नहीं, विचार में व्याघात नहीं करते, देखने पर देखते हैं और बोलने पर बोलते हैं। इस शान्तिमय सेवा में, प्रकृति के इस भीतरी महल में बैठकर जयसिंह सोचने लगे। राजा ने जो सब उपदेश उनको दिये थे उनका मन ही मन अनुशीलन करने लगे।

ऐसे समय में रघुपति ने धीरे धीरे आकर उनकी पीठ पर हाथ रक्खा। जयसिंह चौंक उठे। रघुपति उनके पास बैठे। और जयसिंह के मुँह की ओर देखकर स्वर को कँपाते हुए बोले—"मैं तुम्हारा भाव ऐसा क्यों देख रहा हूँ? मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है जो तुम धीरे धीरे मेरे पास से हटे जा रहे हो?

जयसिंह ने कुछ कहना चाहा, परन्तु रघुपति उसमें बाधा डालकर फिर कहने लगे—"क्या तुमने घड़ीभर के लिए भी अपने ऊपर मेरे प्रेम का कभी अभाव देखा है? जयसिंह, मैंने तुम्हारा क्या कोई अपराध किया है? यदि किया भी हो तो मैं तुम्हारा गुरु हूँ, मैं तुम्हारे पिता के तुल्य हूँ। मैं तुमसे क्षमा की भिक्षा चाहता हूँ। मुझे क्षमा प्रदान करो।"

जयसिंह वज्राहत की तरह मर्माहत होकर काँप उठे और गुरु का पाँव पकड़कर रोने लगे। वे बोले—"मैं कुछ

नहीं जानता, कुछ नहीं समझता, कहाँ जा रहा हूँ, यह भी मुझे मालूम नहीं।"

रघुपति जयसिंह का हाथ पकड़ कर बोले—"वत्स, मैंने तुम्हारे बचपन से ही तुम्हें माता की तरह स्नेह करके शास्त्र की शिक्षा दी है। तुम्हारे ऊपर विश्वास रखकर तुमको अपने समस्त विचारों में संयुक्त किया है। आज तुमको मेरे पास से कौन खींचे लिये जा रहा है? इतने दिनों के स्नेह के ममत्व बन्धन को कौन भग्न कर रहा है? तुम्हारे ऊपर जो मेरा देवता का दिया अधिकार है उस पवित्र अधिकार पर किसने हस्तक्षेप किया है? कहो प्यारे, उस महापातकी का नाम कहो।"

जयसिंह ने कहा—"प्रभो, आपके पास से मुझे कोई जुदा नहीं करता, आप ही ने मुझको जुदा कर दिया है। मैं घर के भीतर पड़ा था। आप हठात् मुझको घर से खींचकर रास्ते पर ले आये हैं। आपने कहा है "किस का कौन बाप, किस की कौन माँ और किसका कौन भाई। आप ही ने कहा है—संसार में किसीसे कोई सम्बन्ध नहीं। स्नेह प्रेम का पवित्र अधिकार नहीं। जिसको मैं मा करके मानता था उसको आप ने बतलाया है "शक्ति" जिस जगह हिंसा की जाति है, जिस जगह रक्तपात होता है, जिस जगह भाई भाई में कलह होता है, जिस जगह दो आदमी लड़ते हैं उसी जगह यह

प्यासी प्रकृति लोहू की लालसा से अपना खप्पर लेकर खड़ी होती है। यह क्या आपने माता की गोद से मुझे अलग कर राक्षसी के राज्य में निष्काशित नहीं कर दिया है?"

रघुपति बड़ी देर तक स्थिर भाव से बैठे रहे। आखिर लंबी साँस लेकर बोले—"तो तुम स्वाधीन हुए, बन्धन से विमुक्त हुए, तुम्हारे ऊपर से मैंने अपने सम्पूर्ण अधिकारों को लौटा लिया। इसी से यदि तुम सुखी रह सको तो वही सही"—यह कह कर वे उठने लगे।

जयसिंह उनका पाँव पकड़ कर बोले—"नहीं, नहीं, प्रभो! आप मुझे त्याग भी देंगे तो भी मैं आपका त्याग नहीं कर सकूँगा। मैं आपके चरणतल में ही रहूँगा। आप जो इच्छा करेंगे वही होगा। आपके बताये रास्ते के सिवा मेरे लिए और कोई मार्ग नहीं।"

रघुपति ने जयसिंह को गले लगा लिया और उनके आँसू बह बहकर जयसिंह के कन्धों पर गिरने लगे।

तेरहवाँ परिच्छेद

मन्दिर में लोग बहुत जमा हुए हैं। ख़ूब शोर ग़ुल हो रहा है। रघुपति ने रूखे स्वर से कहा—"तुम लोग क्या करने आये हो?"

वे लोग भिन्न भिन्न स्वर में बोल उठे—"हम लोग भुवनेश्वरी देवी का दर्शन करने आये हैं।"

रघुपति ने कहा—"देवी हैं कहाँ। देवी तो इस राज्य से चली गईं। तुम लोग देवी को क्या रखसके! वे चली गईं।

भारी बखेड़ा आ खड़ा हुआ। चारों तरफ़ से तरह तरह की बातें सुनाई देने लगीं। "पुजारी जी, यह बात आप क्या कह रहे हैं।"

"हम लोगों ने क्या अपराध किया है?"

"माँ अब किसी प्रकार प्रसन्न न होगीं क्या?"

मेरा भतीजा बीमार था। मैं एक दिन भी पूजा चढ़ाने नहीं आया (उसको पूरा विश्वास हुआ कि उसी का अपमान सह्य न करके देवी इस देश में नहीं रहना चाहती)।

"मैंने भगवती को दो बकरे बलिदान देने का मन में सङ्कल्प किया था। अधिक दूर होने के कारण नहीं आसका। दो बकरों की बलि देने में देरी होने से राज्य में इस प्रकार अशुभ संघटित हुआ।" एक आदमी यही अपने मन में समझ कर अधीर हो रहा था।

गोवर्धन ने जो मन्नत की थी वह उसने पूरी नहीं की। देवी ने भी तो इसी से उसको इतना कष्ट दिया है। उसके पेट में पिलही बढ़कर तोंबी सी लटक गई है। छः महीने से खाट

पर सवार है। गोवर्धन अपनी पिलही बढ़ाकर चूल्हे में जाय! भगवती देश में रहें। उस व्यक्ति ने मनही मन इसी तरह प्रार्थना की। सबलोग अभागे गोवर्धन की पिलही विशेषरूप से बढ़ने की कामना करने लगे।

भीड़ के बीच एक बड़े लम्बे डील-डौल का आदमी था उसने सबको धमकाकर ठहराया और हाथ जोड़कर रघुपति से पूछा—"पुजारी जी, देवी क्यों चली गईं। हम लोगों से क्या अपराध हुआ है?"

रघुपति ने कहा—"तुम लोग देवी को एक बूँद लोहू तक नहीं दे सकते हो। यही तुम लोगों की भक्ति है!"

सब लोग चुप हो रहे। आख़िर फिर बात चलने लगी। कोई कोई धीमे स्वर में बोलने लगे—"राजा की मनाई है। हम लोग क्या करें।"

जयसिंह पत्थर की मूरत की तरह स्थिर भाव से बैठे थे। "देवी की मनाई" यह बात बिजली की गति से उनकी जीभ के अग्र भाग तक आ चुकी थी, पर उन्होंने अपने को रोका और वे कुछ न बोले।

रघुपति तीखे स्वर से बोल उठे—"राजा कौन! देवी का सिंहासन क्या राजा के सिंहासन के नीचे रहेगा? तब तुम लोग इस मातृहीन देश में राजा को ही लेकर रहो! देखूँगा, तुम लोगों की रक्षा कौन करता है!"

उस जन-समाज में गनगनाहट की आवाज़ गूँजने लगी। सभी चैाकन्ने होकर बातें करने लगे।

रघुपति खड़े होकर बोले—"राजा को ही बड़ा मान कर तुम लोगों ने अपमान करके अपने देश से माता को बिदा कर दिया है। तुम लोग सुख से रहना पसन्द नहीं करते हो। और तीन वर्ष के बाद देखोगे इतने बड़े देश में तुम लोगों के वासस्थल का चिह्न न रहेगा। तुम लोगों का वंश नष्ट हो जायगा।"

जन-मण्डली में समुद्र की तरङ्ग की तरह गनगनाने की आवाज़ धीरे धीरे स्पष्ट हो उठी। लोगों का समाज क्रमशः बढ़ने लगा। उस दीर्घकाय मनुष्य ने हाथ जोड़ कर फिर रघुपति से कहा—"सन्तान से यदि कोई अपराध हो पड़ता है तो माता अपराध क्षमा करके उसे समझाती है, किन्तु सन्तान को एकदम छोड़ कर मा कहीं चली नहीं जा सकती। प्रभो, एकबार बोल दीजिए, क्या करने से मा लौट आवेंगी ?"

रघुपति ने कहा—"तुम लोगों का यह राजा (गोविन्दमाणिक्य) जब इस राज्य से बहिर्भूत होगा तभी माँ इस देश में फिर पैर रक्खेगी।"

यह बात सुन कर जन-मण्डली की गनगनाहट एकाएक रुक गई। चारों तरफ़ गहरा सन्नाटा छा गया। आख़िर

आपस में एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। किसी की हिम्मत न पड़ी कि कुछ बोल सके।

रघुपति ने मेघ की तरह गम्भीर स्वर से कहा—"तो तुम लोग दर्शन करोगे! आओ, मेरे साथ चले आओ। बहुत दूर से तरह तरह की आशा करके तुम लोग भगवती का दर्शन करने आये हो। चलो एक बार मन्दिर में चलो।"

सब लोग डरते डरते मन्दिर के आँगन में आकर एकत्र हुए। मन्दिर का द्वार बन्द था, रघुपति ने आहिस्ता आहिस्ता मन्दिर का द्वार खोल दिया।

कुछ देर तक तो किसी के मुँह से वाक्य का संचार न हुआ। सब लोग अवाक् हो रहे। दर्शकों ने प्रतिमा की पीठ अपनी ओर देखी, माँ विमुख हो गई है। एकाएक जन-मण्डली में रोने-चिल्लाने का हल्ला उठ खड़ा हुआ। "माँ एक बार घूमकर खड़ी हो, हम लोगों ने क्या अपराध किया है।" चारों तरफ़ से "मा कहाँ गई, मा कहाँ गई" का कोलाहल मच गया। प्रतिमा पत्थर की ठहरी, वह फिरे कैसे। कितने ही बेहोश होकर गिर पड़े। लड़के लोग कुछ न समझ कर रो उठे। कितने ही बुड्ढे मातृहीन छोटे बच्चों की तरह बिलख बिलख कर पुकारने लगे—"अरी मैया, अरी मैया—हमें छोड़ कर कहाँ चली गई?" स्त्रियों के घूँघट खुल गये। आँचल के कपड़े खिसक पड़े। सब विकल हो हो कर छाती पीटने

लगीं। युवा लोग अपने उच्च स्वर को कम्पित करके बोलने लगे "माँ, तुमको हम लोग लौटा लेवेंगे, तुम्हें न छोड़ सकेंगे।"

एक पागल आदमी गा उठा।

माता तो हम लोगों की यह, है पत्थर की मूरत।
नहीं इसीसे उसने देखी, सन्तानों की सूरत॥

मन्दिर के द्वार पर खड़े होकर मानो सारा राज्य माँ, माँ कह कर विलाप करने लगा किन्तु देवी की मूर्त्ति ज्यों की त्यों विमुख भाव से खड़ी रही। दो पहर की धूप बड़ी कड़ी हो उठी। निराहार जनमण्डली की क्रंदन-ध्वनि नहीं रुकी।

तब जयसिंह ने थरथराते हुए पैर से रघुपति के पास आकर कहा—"प्रभो! क्या मैं एक बात भी न बोलने पाऊँगा।"

रघुपति ने अपनी उँगली उठा कर कहा—"नहीं, एक बात भी नहीं"

जयसिंह ने कहा—"क्या इसमें सन्देह का कोई कारण नहीं हो सकता?"

रघुपति ने ज़ोर से कहा—"नहीं।"

जयसिंह ज़ोर से मुट्ठी बाँध कर बोले—क्या सभी विश्वास करेंगे?"

रघुपति ने अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से मानो जयसिंह को दग्ध करते हुए कहा—"हाँ।"

जयसिंह अपनी छाती पर हाथ रख कर बोले—"मेरा कलेजा फटा जा रहा है।" इतना कह कर वे उस भीड़ में से निकल कर बाहर चले गये।

चौदहवाँ परिच्छेद

आज आषाढ़ के शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी है। आज ही रात को चौदह देवताओं की पूजा होगी। आज सवेरे ताल वन की आड़ में जब सूर्य उदय हो रहे थे तब पूर्व दिशा में मेघ न था। सूर्य की सुनहरी किरणों से अवगाहित आनन्द-मय उपवन में जाकर जब जयसिंह बैठे तब उनको अपनी सभी पुरानी बातें याद आने लगीं। इस उपवन में इस पत्थर के बने मन्दिर की पाषाण-रचित सीढ़ियों के बीच में, इस गोमती नदी के तट में, उस विस्तृत वट की छाया में, उस छाया से घिरी हुई पोखर की धार में, अपने बचपन का समय सुखद स्वप्नवत् स्मरण होने लगा। जो सब मनोमुग्ध कर प्रिय दृश्य उनके बाल्यकाल को स्नेहपूर्वक अटका रखते थे वे सब आज हँस रहे हैं और उनको फिर अपने पास बुला रहे हैं। किन्तु उनका आत्मा उत्तर दे रहा है—"मैं यात्रा करके बाहर आया हूँ। मैं बिदा हो चुका हूँ। मैं अब नहीं लौटूँगा।" उजले पत्थर के मन्दिर पर सूर्य की किरणें पड़ रही हैं और

उसकी बाईं ओर दीवाल पर मौलसिरी वृक्ष की हिलती हुई डालों की चञ्चल छाया नाच रही है । बाल्यावस्था में इस पत्थर के मन्दिर को जिस प्रकार सचेतन करके वे जानते थे, इन सीढ़ियों के बीच बैठ कर जब खेलते थे तब वे इन सीढ़ियों को जिस प्रकार साथी करके मानते थे। आज प्रातः-कालिक सूर्य की किरणों में उसी प्रकार मन्दिर को सचेतन और उन सीढ़ियों को भी उसी प्रकार साथी मान कर बाल-पन की दृष्टि से देखने लगे। मन्दिर के भीतर देवी को आज फिर माँ कह कर पुकारने की इच्छा होने लगी। किन्तु मारे ग्लानि के उनका हृदय भर आया । उनकी दोनों आँखों से आँसू उमड़ कर बह चले ।

रघुपति को आते देख कर जयसिंह ने आँखों के आँसू पोछ डाले और गुरु को प्रणाम करके खड़े हो गये। रघुपति ने कहा—"आज पूजा का दिन है। देवी का पाँव छू कर क्या शपथ की थी, याद है?"

जयसिंह—"याद है।"

रघुपति—"शपथ का पालन करोगे?"

जयसिंह—"हाँ।"

रघुपति—देखना बच्चा, सावधानी से काम करना! जान पर आ पड़ने का डर है। मैंने तुम्हारी रक्षा का ख़याल करके ही राजा के विरुद्ध प्रजाओं को उत्तेजित किया है।"

जयसिंह चुप होकर रघुपति के मुँह की ओर देखने लगे। उन्होंने जवाब कुछ भी न दिया। रघुपति उनके माथे पर हाथ रख कर बोले—'मेरे आशीर्वाद से तुम अपने काम को निर्विघ्न सिद्ध कर सकोगे और देवी की आज्ञा का पालन कर सकोगे।" यह कह कर रघुपति चले गये।

दिन के तीसरे पहर एक कमरे में बैठ कर राजा ध्रुव के साथ दिल बहला रहे हैं। ध्रुव के आज्ञानुसार एक बार सिर से ताज उतारते हैं फिर एक बार पहनते हैं। महाराज के इस क्लिष्ट व्यापार को देख कर ध्रुव हँसते हँसते व्याकुल हो रहा है। राजा मुसकरा कर बोले—मैं अभ्यास कर रहा हूँ। जिन की आज्ञा से यह मुकुट जिस तरह आसानी से पहन सकता हूँ, उनकी आज्ञा से यह मुकुट उसी तरह आसानी से उतार सकूँ। मुकुट का पहनना कठिन है किन्तु उसका उतारना और भी कठिन है।

ध्रुव के मन में एक भाव का उदय हुआ। कुछ देर के बाद राजा के मुँह की ओर देख कर और मुँह में उँगली डाल कर बोला--"तुम लाजा हो" राजा शब्द में का "र" अक्षर एक बारगी उड़ाकर भी ध्रुव के मन में ज़रा अनुताप न हुआ, राजा के मुँह के सामने राजा को "लाजा" कह कह उसने अपने जी में पूर्णरूप से आनन्द प्राप्त किया।

राजा ध्रुव की इस धृष्टता को न सह करके बोले—"तुम लाजा।" ध्रुव—"तुम लाजा।"

इस विवाद का अन्त न हुआ। किसी ओर कोई प्रमाण नहीं। केवल दैहिक बल के ऊपर बहस चल रही थी। आख़िर राजा ने अपना मुकुट लेकर ध्रुव के माथे पर धर दिया। तब तो ध्रुव को कुछ और बोलने की जगह न रही।"

उसकी सम्पूर्णरूप से हार हुई। ध्रुव के मुँह का आधा हिस्सा उस मुकुट के नीचे छिप गया। ध्रुव ने अपने मुकुट-युक्त बड़े माथे को झुला कर मुकुट-रहित राजा के ऊपर हुक्म चढ़ाया—"कोई एक कहानी कहो।"

राजा—"कौन कहानी कहूँ?"

ध्रुव—बहनवाली कहानी कहो।" ध्रुव कहानी मात्र को बहनवाली कहानी करके ही जानता था। वह समझता था कि बहन जो कहानियाँ उसे सुनाती थी उनके सिवा दुनिया में और कोई कहानी नहीं है।"

तब राजा ने पुराण की एक बृहत् कथा कहना आरम्भ किया। वे कहने लगे—"हिरण्यकशिपु नाम का एक राजा था।"

राजा का नाम सुन कर ध्रुव बोल उठा—'लाजा मैं हूँ।"

अपने ढीले ढाले विशाल मुकुट के ज़ोर से हिरण्यकशिपु के राजत्व को उसने एकबारगी ना मञ्ज़ूर किया।

ख़ुशामदी सभासदों की तरह गोविन्दमाणिक्य उस मुकुट-धारी बालक को राज़ी करने के अभिप्राय से बोले—"तुम भी लाजा और वह भी लाजा।"

ध्रुव उसमें भी स्पष्टरूप से अपनी अनिच्छा प्रकट कर बोला—"नहीं, मैं ही लाजा।"

आख़िर जब महाराज ने कहा कि "हिरण्यकशिपु लाजा नहीं था वह लाक्कस (राक्षस) था, तब ध्रुव ने उसमें कोई आपत्ति न की।"

उसी वक्त नक्षत्रराय उस कमरे में आ पहुँचे और बोले—"सुना है कि महाराज ने किसी राज-काज के हेतु मुझे बुलाया है। मैं आपके हुक्म की इन्तज़ार कर रहा हूँ।"

राजा ने कहा—"ज़रा ठहर जाओ, इस क़िस्से को ख़तम किये देता हूँ।" यह कह कर राजा ने थोड़े ही में सारी कहानी कह कर ख़तम कर डाली। "लाकछस (राक्षस) दुष्ट था" इस प्रकार ध्रुव ने कहानी सुन कर मुख़तसर में अपनी राय ज़ाहिर की।

ध्रुव के माथे पर मुकुट देख कर नक्षत्रराय को अच्छा नहीं लगा। ध्रुव ने जब देखा कि नक्षत्रराय की दृष्टि उसकी तरफ़ अटकी है तब उसने नक्षत्रराय को धीरता के साथ सूचित कर दिया—"मैं लाजा हूँ।"

नक्षत्रराय ने कहा—छी, यह बात बोलना उचित नहीं।" यह कह कर वे ध्रुव के माथे से मुकुट उतार कर राजा के हाथ में देने को उद्यत हुए। ध्रुव मुकुट छिन जाने की सम्भावना देख सच्चे राजा की तरह चिल्ला उठा। गोविन्द-माणिक्य ने उसको इस आई हुई आफ़त से बचा लिया। उन्होंने नक्षत्रराय को मुकुट न उतारने दिया।

तदनन्तर गोविन्दमाणिक्य ने नक्षत्रराय से कहा—"सुना है रघुपति ठाकुर बे तरह प्रजा में असन्तोष बढ़ा रहे हैं। तुम स्वयं शहर में जाकर इस बात की तहक़ीक़ात करो और मुझे सूचित करो कि यह बात सच है या झूँठ।

"जो आज्ञा" कह कर नक्षत्रराय चले गये। चले तो गये, पर ध्रुव के माथे का मुकुट उन्हें ज़रा भी अच्छा न लगा।

दरबान ने आकर इत्तिला की—"पुजारी जी के सेवक जयसिंह हज़ूर में हाज़िर होने के लिए ड्योढ़ी पर खड़े हैं।"

राजा ने "आने की आज्ञा दी।"

जयसिंह महाराज को प्रणाम करके हाथ जोड़ कर बोले—"महाराज, मैं बहुत दूर देश जाने की तैयारी कर रहा हूँ। आप मेरे राजा हैं। मेरे गुरु हैं। आपसे आशीर्वाद लेने आया हूँ।"

राजा ने पूछा—"जयसिंह, कहाँ जाओगे?"

जयसिंह ने कहा—"महाराज, मुझे मालूम नहीं, मैं कहाँ जाऊँगा। उसे कोई नहीं कह सकता।" राजा को कुछ कहने के लिए उद्यत देखकर जयसिंह बोले—"महाराज, आप रुकावट न डालें। आपके रुकावट डालने से मेरी यात्रा सफल न होगी। आशीर्वाद दीजिए कि यहाँ जो मेरे सन्देह थे वे सब दूर हो जायँ। यहाँ जो मेरे ऊपर एक तरह का मेघ छाया था वह फट जाय। आपके सदृश राजा के राज्य में जाकर प्राप्त होऊँ और शान्ति-सुख पाऊँ।"

राजा ने पूछा—कब जाओगे ?

जयसिंह ने कहा—"आज शाम को। महाराज, समय अधिक नहीं है। इसलिए मैं अब आपसे बिदा होता हूँ।" यह कह कर जयसिंह ने राजा को प्रणाम करके उनके पैर की धूल माथे पर लगाई। राजा के पैर पर जयसिंह की आँखों से आँसू टपक पड़े।

जयसिंह जब जाने को तत्पर हुए तब ध्रुव ने धीरे धीरे उनके पास जाकर और उनके कपड़े को खींच कर कहा—"तुम मत जाओ।"

जयसिंह हँसकर खड़े हुए और ध्रुव को गोद में उठा कर उसके मुँह को चूमकर बोले—"मैं किसके पास रहूँगा ? मेरे कौन है ?"

ध्रुव ने कहा—"मैं लाजा हूँ।"

जयसिंह ने कहा—"तुम राजा के भी राजा हो। तुमने अपने प्रेम में सभी को उलझा रक्खा है।" यह कह कर ध्रुव को गोद से नीचे उतार कर जयसिंह कमरे से बाहर हो गये। महाराज गम्भीर भाव से बड़ी देर तक कुछ सोचने लगे।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

आज चतुर्दशी तिथि है। मेघ घिर आया है। चन्द्रमा का उदय हो गया है। आकाश में कहीं प्रकाश और कहीं अन्धकार है। चाँद कभी बाहर निकलता है कभी मेघ में छिप जाता है। गोमती के किनारों के जंगलात चन्द्रमा की ओर देख कर अपने गहरे घने अन्धकारों को मर्माहत कर बीच बीच में लंबी साँस ले रहे हैं।

आज रात में लोगों को घर से बाहर निकलने की मनाई है। रात के वक्त रास्ते में चलता ही कौन है, किन्तु आज रोक है। इससे रास्ते की जन-शून्यता और भी अधिक गहरी मालूम होती है। शहर के सभी लोगों ने अपने अपने घर का चिराग़ बुताकर द्वार बन्द कर दिया है। रास्ते में एक भी चौकीदार नहीं। आज चोर भी घर से बाहर नहीं निकलते।

जिन को मृतक जलाने के लिए मुरदघटी जाना है वे भी मुरदे को घर में रख सबेरा होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। जिनके घर में लड़का मरणासन्न है, वे भी वैद्य बुलाने के लिए आज बाहर नहीं जा सकते। जो भिखमङ्गे और दिन रास्ते के पार्श्ववर्ती पेड़ के नीचे सोते थे वे आज गृहस्थों की गोशाला में आ कर ठहरे हैं।

उस सन्नाटे की रात में गीदड़ और कुत्ते शहर के रास्तों पर इधर उधर घूम रहे हैं। दो एक चीता, बाघ गृहस्थ के दरवाज़े के पास आकर झाँक रहे हैं। मनुष्यों में केवल एक व्यक्ति आज घर के बाहर है और कोई नहीं। वह एक छुरी लेकर नदी के किनारे पत्थर पर तेज़ कर रहा है और अन्य-मनस्क हो कुछ सोच रहा है। छुरी में धार बिलकुल चढ़ी थी। किन्तु वह छुरी तेज़ करने के साथ ही साथ अपने मान-सिक विचार पर भी सान चढ़ाता जाता था, इसी से उसका सान देना समाप्त नहीं होता था। पत्थर की रगड़ खा कर वह तेज़ छुरी हिस् हिस् शब्द करती हुई हिंसा की लालसा से गरम हो उठी। अन्धकार के बीच अन्धकार की धारा बही जा रही थी। संसार के ऊपर से अन्धकारमय रात का पहर बहा जा रहा था और माथे के ऊपर आकाश-मण्डल में घने काले बादल का स्रोत बहा जा रहा था।

आख़िर जब मूसलाधार पानी बरसना शुरू हुआ तब जयसिंह को होश हो आया। वे उस गरम छुरी को म्यान के भीतर रख कर उठ खड़े हुए। पूजा का समय समीप आ पहुँचा है। उनको अपनी शपथ की बात याद आ गई। अब एक क्षण भी विलम्ब करने से काम न चलेगा।

हज़ारों दीपावली से आज मन्दिर जगमगा उठा है। तेरह देवताओं के मध्य में कालिका देवी खड़ी होकर मनुष्य-रक्त के लिए जीभ लपलपा रही है। मन्दिर के अन्यान्य कर्मचारियों को बिदा कर चौदह देवताओं की मूर्तियों के सामने रघुपति अकेले मन्दिर में बैठे हैं। उनके आगे एक बृहत् खड्ग रक्खा हुआ है। वह स्थिर वज्र के सदृश चमकीला खुला खड्ग दीपों के प्रकाश में चमचमाता हुआ देवी की आज्ञा पालन की प्रतीक्षा कर रहा है।

आधी रात के समय पूजा होगी। समय क़रीब है। रघुपति बड़े ही व्याकुल-चित्त से जयसिंह के आने की बाट जोह रहे हैं।

एकाएक हवा ज़ोर से बहने लगी। मूसलाधार पानी बरसने लगा। हवा के झोंकों से मन्दिर के सभी दीपों की शिखायें नाचने लगीं। नङ्गी तलवार के ऊपर बिजली खेलने लगी। चौदह देवताओं की और रघुपति की छाया मानों सजीव की भाँति नाचती हुई दीप-शिखाओं की ताल ताल पर मन्दिर की दीवालों पर नाचने लगीं। एक मृत मनुष्य की

खोपड़ी तेज़ हवा के झोंके से घर भर में लुढ़कने लगी। सूखे पत्तों की तरह दो चमगादड़ मन्दिर के भीतर आकर यकायक उड़ कर घूमने लगे। दीवालों पर उनकी छाया भी उड़ने लगी।

आधी रात का समय आ पहुँचा। पहले नज़दीक ही, फिर कुछ दूर और तब उससे भी कुछ दूर गीदड़ बोल उठे। हवा भी उनके साथ हू हू शब्द करके रोने लगी।

पूजा का समय हो गया। रघुपति अशुभ के भय से घबरा उठे हैं।

ऐसे समय में जयसिंह ने बिजली की तरह आधी रात के अन्धकार से निकल कर मन्दिर के प्रकाश में पाँव रक्खा। लम्बी चादर से देह ढँकी है। सारे शरीर से वर्षा का जल बहा जा रहा है। साँस तीव्र गति से चल रही है। आँख की पुतली से मानो आग की चिनगारियाँ झड़ रही हैं।

रघुपति ने उन्हें पकड़ कर कान के पास मुँह ले जाकर पूछा—"राज-रक्त लाये हो?"

जयसिंह उनका हाथ हटा कर ऊँचे स्वर से बोले—"लाया हूँ। राज-रक्त लाया हूँ। आप हट कर खड़े हों, मैं देवी से प्रार्थना करता हूँ।" उनके इन शब्दों से मानो मन्दिर काँप उठा। काली की मूर्ति के सामने खड़े हो कर कहने लगे—"जगदम्बिके, तो क्या सच मुच ही तुम सन्तान का रक्त चाहती

हो, राजरक्त के न पाने से क्या तुम्हारी प्यास न मिटेगी ? मैं जन्म से तुम्हीं को माँ करके मानता आया हूँ। मैं और किसी की कुछ परवा नहीं रखता था। मेरे जीवन का कोई दूसरा उद्देश भी न था। मैं राजपुत्र हूँ। मैं क्षत्रिय हूँ। मेरे परदादा राजा थे। मेरे मातामह के वंशज लोग अब भी राजशासन कर रहे हैं। तब तेरी सन्तान का रक्त यही है न, तेरा राजरक्त यही है न। चादर देह पर से गिर गई। कमरबन्द से छुरी निकाली, मानो बिजली चमक उठी। एकही पल में उस छुरी को उन्होंने अपनी छाती में घुसेड़ लिया। मृत्यु के चोखे दाँत उनके कलेजे में गड़ गये। वे पछाड़ खा कर प्रतिमा के पाँव के पास गिरपड़े। पत्थर की मूर्ति ज़रा भी न हिली।

रघुपति चिल्ला उठे—जयसिंह को उठाने की चेष्टा की, किन्तु नहीं उठा सके। आख़िर वे उनकी लाश पर गिर पड़े। लोहू ढल ढल कर मन्दिर के उजले पत्थर पर बहने लगा। एक एक करके सभी दीप क्रमशः बुझ गये। उस अन्धकार में सारी रात एक प्राणी के साँस लेने का शब्द सुना गया। रात के तीसरे पहर हवा थमी। चारों तरफ़ सन्नाटा छा गया। रात के पिछले पहर में मेघ के छिद्र से चन्द्रमा का प्रकाश मन्दिर के भीतर प्रविष्ट हुआ। चन्द्रमा की किरण जयसिंह के विवर्णमुख पर पड़ी। चौदहों देवता सिरहाने की तरफ़ खड़े हो कर यही देखने लगे। सुबह जब जंगल से चिड़ियाँ

चहचहा उठीं तब रघुपति जयसिंह के मृतक कलेवर को छोड़. कर उठ गये।

सोलहवाँ परिच्छेद

राजा की आज्ञानुसार प्रजा की अप्रसन्नता का कारण दरयाफ़्त करने के लिए ख़ुद नक्षत्रराय सुबह बाहर निकले। उनके मन में यह विचार होने लगा कि मैं मन्दिर में क्या करने जाऊँ। रघुपति के सामने पड़ जाने से वे एक तरह चञ्चल हो पड़ते थे और किसी प्रकार वे अपने को नहीं रोक सकते थे। रघुपति के सम्मुख होने की उनकी बिलकुल इच्छा न थी। अतएव उन्होंने मन में ठीक किया कि रघुपति की दृष्टि बचा कर छिपे तौर से जयसिंह के पास जाता हूँ, उसके द्वारा सब हालात अच्छी तरह ज़ाहिर हो सकेंगे।

नक्षत्रराय ने धीरे धीरे जयसिंह की कोठरी में प्रवेश किया। प्रवेश करने के साथ समझा, लौट जाने ही में कुशल है। देखा कि जयसिंह की पुस्तकें, उनके कपड़े और उनके घराऊ उपकरण चारों तरफ़ यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। बीच में रघुपति बैठे हैं। जयसिंह का पता नहीं। रघुपति की लाल लाल आँखें अङ्गारे की तरह बल रही हैं। सिर के बाल

खुले हैं। नक्षत्रराय को देखते ही ख़ूब ज़ोर से मुट्ठी कस कर रघुपति ने उनका हाथ पकड़ा और बलात् उनको धरती पर बैठाया। नक्षत्रराय के तो होश उड़ गये। रघुपति अपनी लाल लाल आँखों से नक्षत्रराय के अङ्ग प्रत्यङ्ग हृदय पर्यन्त दग्ध करते हुए पागल की तरह बोले—"रक्त कहाँ है?" नक्षत्रराय के हृदय में मानो रक्त की तरङ्गें उछलने लगीं। दिल धड़कने लगा। मुँह से कोई बात न निकली।

रघुपति ने ऊँचे स्वर से कहा—"तुम्हारी प्रतिज्ञा कहाँ गई? रक्त कहाँ है?"

नक्षत्रराय हाथ पैर हिलाने लगे, बाँईं ओर हट कर बैठे और अपने कपड़े का छोर हाथ में लेकर खींचने लगे। उनकी देह से पसीना बह चला। वे सूखे मुँह से बोले—"पुरोहितजी!"

रघुपति ने कहा—"अब की बार देवी ने स्वयं तलवार उठाई है। इस बार चारों तरफ़ रक्त की धारा बह चलेगी। इस बार तुम लोगों के वंश में एक बूँद लोहू तो बचेहीगा नहीं। तब मैं नक्षत्रराय का भ्रातृस्नेह देखूँगा।"

भ्रातृस्नेह, हा, हा, हाः—नक्षत्रराय के मुँह से इस प्रकार पहले की सी कोई हँसी न निकली, उनका कण्ठ सूख गया।

रघुपति ने कहा—"मैं गोविन्दमाणिक्य का रक्त नहीं चाहता। इस संसार में गोविन्दमाणिक्य के जो प्राण से भी

अधिक प्रिय है मैं उसीका रक्त चाहता हूँ। उसका रक्त लेकर मैं गोविन्दमाणिक्य के शरीर में लेपना चाहता हूँ। उसकी छाती लाल हो जायगी। उस लोहू का दाग़ किसी प्रकार न धुलेगा। यह देखो, आँख पसार कर देखो।" यह कह कर उन्होंने चादर हटाई, उनका सारा शरीर लोहू से लिप्त है, उनकी छाती के बीच कहीं कहीं लोहू जमा हुआ है।

नक्षत्रराय सहम गये। उनके हाथ पैर काँपने लगे। रघुपति वज्र के सदृश कठोर मुट्ठी से नक्षत्रराय का हाथ दबा कर बोले—"वह कौन है? गोविन्दमाणिक्य को प्राण से भी बढ़ कर प्रिय कौन है? किसके न रहने से गोविन्दमाणिक्य की आँख में यह संसार श्मशानवत् प्रतीत होगा और उनके जीवन का लक्ष्य चला जायगा। सबेरे शय्या से उठ कर किसका मुँह उन्हें याद आता है? किसका स्मरण करते हुए वे सोने जाते हैं? उनके हृदयरूपी मन्दिर में सम्पूर्ण रूप से व्याप्त होकर कौन विराज रहा है? वह कौन है? क्या वह तुम्हीं हो?" इतना कह कर, बाघ चोट करने के पहले भय से काँपते हुए हिरन के बच्चे की ओर जिस तरह एकटक दृष्टि से देखता है उसी तरह रघुपति ने नक्षत्रराय की ओर देखा।

नक्षत्रराय झट पट बोल उठे—"नहीं, सो मैं नहीं हूँ।" किन्तु रघुपति की मुट्ठी को छुड़ा नहीं सके।

रघुपति—"तो कहो, वह कौन है?"

नक्षत्र—"वह ध्रुव है।"

रघुपति—"कौन ध्रुव ?"

नक्षत्र—वह एक लड़का—"

रघुपति बोले—"मैं जानता हूँ। उसे जानता हूँ। राजा की वह अपनी सन्तान नहीं है। वे सिर्फ़ सन्तान की तरह उसका लालन पालन करते हैं। लोग अपनी सन्तान का प्यार किस प्रकार करते हैं, सो मैं नहीं जानता; किन्तु रक्षित सन्तान को प्राण से भी बढ़ कर लोग प्यार करते हैं यह मैं जानता हूँ। अपनी सारी सम्पत्ति की अपेक्षा राजा उसके सुख को ही विशेष करके मानते हैं। अपने माथे पर मुकुट-धारण की अपेक्षा उसके माथे पर मुकुट देख राजा को अधिक हर्ष होता है।"

नक्षत्रराय आश्चर्ययुक्त होकर बोल उठे—"ठीक है।"

रघुपति—ठीक नहीं तो क्या है ? राजा उसे किस दरजे तक प्यार करते हैं सो क्या मैं नहीं जानता हूँ ? उसे क्या मैं समझ नहीं सकता हूँ ? मैं भी उसीको चाहता हूँ।

नक्षत्रराय "हाँ" करके रघुपति की ओर देखने लगे और अपने मन में कहने लगे—"मैं भी उसीको चाहता हूँ।"

रघुपति ने कहा—"उसको लाना ही होगा। आज ही लाना होगा। आज रात में ही उसे लाना चाहिए।" नक्षत्रराय

प्रतिध्वनि की तरह बोले—"आज रात में ही उसे लाना चाहिए।"

नक्षत्रराय के मुँह की ओर कुछ देर तक देख कर रघुपति कण्ठ-स्वर को कोमल करके बोले—"यही लड़का तुम्हारा दुश्मन है। क्या तुम उसे जानते हो? तुम राज-वंश में उत्पन्न हुए हो। कहाँ का एक अपरिचित-कुलशील बालक तुम्हारे माथे का मुकुट हड़पने के लिए आया है सो क्या तुम समझते हो? जो राज-सिंहासन तुम्हारे लिए अपेक्षा कर रहा था, उस सिंहासन पर उसके लिए जगह निर्दिष्ट हो चुकी है। दो आँखें रहते भी क्या यह तुम्हें नहीं सूझता?"

नक्षत्रराय के लिए ये सब बातें नई नहीं हैं। उन्होंने भी पहले इस प्रकार सोचा था। ज़ोर देकर बोले—"आपको और कुछ कहना नहीं होगा। मैं क्या यह सब नहीं जानता हूँ।"

रघुपति ने कहा—"तब और क्या, उसको ले आओ, तुम्हारे सिंहासन का कण्टक दूर कर दूँ। दिन के इन कई पहरों को किसी तरह बिता कर तुम उसे किस वक्त लाओगे?"

नक्षत्रराय—"आज शाम के वक्त, अन्धेरा हो जाने पर।"

रघुपति जनेऊ छूकर बोले—"जो नहीं ला सकोगे तो ब्राह्मण का शाप लगेगा। जिस मुख से प्रतिज्ञा करके उसे पूरा न करोगे, तब फिर जान रक्खो, तीन दिन के भीतर ही भीतर उस मुँह का मांस गिद्ध नोच नोच कर खायँगे।"

यह सुन कर नक्षत्रराय ने चौंक कर अपने मुँह पर हाथ फेरा। कोमल मुँह पर गिद्ध के चञ्चु-प्रहार की भावना उन्हें असह्य मालूम होने लगी। रघुपति को प्रणाम करके वे झट पट वहाँ से चले गये। उस घर से निकल कर खुली हवा, प्रकाश और जन-समाज में जाकर नक्षत्रराय ने पुनर्जीवन-लाभ किया।"

सत्रहवाँ परिच्छेद

उस दिन शाम के वक्त नक्षत्रराय को देख कर ध्रुव "काका' कह कर दौड़ पड़ा। दोनों छोटे हाथों से उनके गले में लिपट कर उसने उनके गाल पर गाल और मुँह के पास मुँह रक्खा और चुपके से कहा—"काका"।

नक्षत्रराय ने कहा—"चुप, यह बात मत बोलो। मैं तुम्हारा काका नहीं हूँ। ध्रुव इतने दिनों तक उन्हें बराबर काका ही कह कर पुकारता आता था। आज सहसा निरोध की बात सुन कर वह भारी अचम्भे में पड़ गया। कुछ देर तक वह गम्भीर भाव से चुप रहा, पर बाद को नक्षत्रराय के मुँह की ओर देख कर पूछा—"तब तुम मेरे क्या लगते हो?"

नक्षत्रराय ने कहा—"मैं तुम्हारा काका नहीं लगता।" यह सुन कर ध्रुव को एकाएक बड़ी हँसी आई। इतनी बड़ी

असम्भव बात इससे पहले उसने और कभी नहीं सुनी थी। वह हँस कर बोला—"तुम काका लगते हो।" नक्षत्रराय जितना उसे रोकने लगे उतना ही वह कहने लगा—"तुम काका" और उस की हँसी भी क्रमशः बढ़ने लगी। वह नक्षत्रराय को एक प्रकार काका कह कर चिढ़ाने लगा। नक्षत्रराय ने कहा, "ध्रुव, तुम अपनी बहन को देखने जाओगे?"

ध्रुव झट नक्षत्रराय का गला छोड़ कर बोला, "बहन कहाँ है?" नक्षत्र—"देवी के पास।"

ध्रुव—"देवी कहाँ हैं?"

नक्षत्र—"देवी एक जगह हैं। मैं तुम्हें वहाँ ले जा सकता हूँ।"

ध्रुव ने ताली बजा कर पूछा—"काका, कब ले चलोगे?"

नक्षत्र—"अभी।"

ध्रुव मारे ख़ुशी के चिल्ला कर नक्षत्रराय के गले में लिपट गया।

नक्षत्रराय उसको गोद में ले चादर से ढक कर गुप्त द्वार से बाहर हो गये।

आज रात में भी लोगों को बाहर होने की मुमानियत है। इसी से रास्ते पर कोई पहरेदार नहीं। कोई पथिक नहीं। आकाश में पूर्ण चन्द्र विराजमान है।

नक्षत्रराय मन्दिर में जाकर ध्रुव को रघुपति के हाथ में देने को उद्यत हुए। रघुपति को देख कर ध्रुव नक्षत्रराय की देह में ज़ोर से लिपट गया। रघुपति ने ज़बरदस्ती गोद से उसे उतार लिया। ध्रुव "काका" कह कर रो उठा। नक्षत्रराय की आँखों में आँसू भर आया, किन्तु रघुपति के निकट अपने हृदय की कोमलता दिखलाते उन्हें बड़ी लज्जा आई। उन्होंने स्वाँग कर लिया, मानो वे भी पत्थर के बने हैं। तब ध्रुव रो रो कर बहन, बहन, कह कह पुकारने लगा। बहन उसकी थी कहाँ जो आवे। रघुपति ने वज्र के सदृश कठोर स्वर से उसे एक बार डपट दिया। उससे ध्रुव का रोना रुक गया। केवल रह रह कर वह हिचकी लेने लगा। चौदहों देवता देखते रहे।

गोविन्दमाणिक्य आधी रात के समय स्वप्नावस्था में रोने की आवाज़ सुन कर जाग उठे। उन्होंने हठात् सुन पाया, उनके झरोखे के नीचे से कोई अधीर स्वर से उन्हें पुकार रहा है "महाराज! महाराज!"

राजा ने जल्दी से उठ कर चन्द्रमा के प्रकाश में ध्रुव के चचा केदारेश्वर को देख कर पूछा—"क्या हुआ है?"

केदारेश्वर—"महाराज, मेरा ध्रुव कहाँ है?"

राजा—"क्यों, अपनी चारपाई पर नहीं है?"

"नहीं"

केदारेश्वर कहने लगा—"जब मैंने तीसरे पहर ध्रुव को यहाँ न देखा तब खोज करने पर नक्षत्रराय के नौकर ने मुझसे कहा कि "ध्रुव महल के भीतर युवराज के पास है।" यह सुन कर मैं निश्चिन्त हो गया। रात अधिक बीतते देख मेरे मन में सन्देह उत्पन्न हुआ। दरयाफ़्त करने पर मालूम हुआ कि युवराज अपने कोठे पर नहीं हैं। महाराज के पास हाज़िर होने के लिए मैंने कितनी ही आरज़ू मिन्नत की पर द्वारपाल ने मेरी एक न सुनी। इसी से मैंने खिड़की के नीचे से महाराज को पुकार कर जगाया है। मेरे इस अपराध को क्षमा करेंगे।"

राजा के मन में बिजली की तरह एक बात चमक उठी। उन्होंने चार पहरेदारों को बुला कर कहा कि हथियारबन्द हो कर मेरे साथ चलो। एक ने कहा—"महाराज, आज रात में रास्ते से चलना मना है।"

राजा ने कहा, "मैं आज्ञा दे रहा हूँ।"

केदारेश्वर साथ जाने को तत्पर हुए। राजा ने उनको लौट जाने को कहा। आप उस जनशून्य रास्ते से चाँदनी के उजाले में मन्दिर की ओर चले।

मन्दिर का फाटक जब सहसा खुल गया तब देखा कि सामने तलवार रख कर नक्षत्र और रघुपति दोनों मद्यपान

कर रहे हैं। रोशनी तेज़ नहीं है, एक मामूली चिराग़ जलरहा है। ध्रुव कहाँ है? ध्रुव काली की प्रतिमा के पास नींद से बेख़बर सोया है। उसके गालों पर आँसू बहने का दाग़ सूख गया है। उसके नीचे का होंठ खुला है। मुख पर भय का कोई चिह्न नहीं है। कुछ तरद्दुद नहीं है। वह मानो पत्थर की शय्या पर नहीं है, मानो वह अभी बहन की गोद में सोया है। और बहन ने चुम्मा ले कर मानो उसकी आँखों के आँसू मिटा दिये हैं।

मद्यपान करने से नक्षत्र का दिल खुल गया था अर्थात् वे मस्ती में आ गये थे। परन्तु रघुपति ठिकाने से बैठ कर पूजा के मुहूर्त की प्रतीक्षा कर रहे थे। नक्षत्र की बक बक पर उनका किञ्चित् मात्र ध्यान न था। नक्षत्र बक रहे हैं—"पुरोहित महाशय, तुम मनही मन भय खा रहे हो, तुम्हारे मन में होता है कि मैं भी डरता हूँ। लेकिन डर कुछ नहीं। डर कैसा। किसका डर। मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। तुम समझ रहे हो कि मैं राजा से डरता हूँ। मैं शाहशुजा से नहीं डरता। मुझे शाहजहाँ का डर नहीं। तुमने क्यों नहीं कहा, मैं राजा को पकड़ ले आता। देवी को प्रसन्न कर देता। इतने छोटे लड़के का रक्तही कितना होगा।"

ऐसे समय में एकाएक मन्दिर की दीवार पर परछाँहीं पड़ी। नक्षत्रराय ने पीछे घूम कर देखा—"राजा।" सारा नशा

एक ही पल में उतर गया। अपनी परछाँहीं की अपेक्षा भी आप अधिक म्लान हो गये। गोविन्दमाणिक्य ने बड़ी फुरती के साथ सोये हुए ध्रुव को गोद में उठा कर सिपाहियों को हुक्म दिया कि "इन दोनों को गिरफ़्तार करो।"

उन सिपाहियों ने रघुपति और नक्षत्रराय के दोनों हाथ पकड़ लिये। ध्रुव को छाती में चिपटा कर गोविन्दमाणिक्य चाँदनी के उजाले में उस जनशून्य पथ से राज-भवन लौट आये। रघुपति और नक्षत्रराय दोनों सारी रात हिरासत में रहे।

अठारहवाँ परिच्छेद

आज उस अभियोग का विचार होने वाला है। न्यायालय में लोगों की भीड़ उमड़ पड़ी है। राजा विचार करने के लिए विचारासन पर विराजमान हैं। सभासद लोग चारों तरफ़ बैठे हैं। सामने वे दोनों अपराधी खड़े हैं। किसी के हाथ में हथकड़ी नहीं है। केवल हथियारबन्द सिपाही उन दोनों को घेरे खड़े हैं। रघुपति पत्थर के पुतले की तरह खड़े हैं। नक्षत्रराय सिर झुकाये हैं।

राजा ने रघुपति के अपराध को प्रमाणित करके उनसे पूछा—"तुमको क्या कहना है?"

रघुपति ने कहा—"मेरा विचार करने का अधिकार आप को नहीं है।"

राजा—"तो तुम्हारा विचार कौन करेगा?"

रघुपति—"मैं ब्राह्मण हूँ। मैं देवता का सेवक हूँ। मेरा विचार देवता ही करेंगे।"

राजा—"ईश्वर तो सबका विचार करते ही हैं। हम लोग उनके राजदण्डस्वरूप हैं। हम लोगों के द्वारा ही वे अपराधियों के दण्ड की व्यवस्था करते हैं। पाप का दण्ड और धर्म का पुरस्कार देने के लिए संसार में उनके हज़ारों आज्ञा-वर्ती सेवक वर्तमान हैं। मैं भी उन्हीं में से एक हूँ। उन बातों को लेकर मैं तुम्हारे ऊपर विचार की ज्यादती दिखलाना नहीं चाहता। मैं इतना ही पूछता हूँ कि कल सन्ध्या के समय बलिदान की इच्छा से तुमने एक बालक को चुरा रक्खा था या नहीं?"

रघुपति—"हाँ।"

राजा—"तुम अपराध क़बूल करते हो न?"

रघुपति—अपराध! अपराध कैसा! मैं देवी की आज्ञा का पालन करता था। देवी का काम करता था। तुमने उसमें बाधा डाली है। अतएव अपराध तो तुमने किया है। मैं देवी

का अध्यक्ष हूँ। तुमको अपराधी क़ायम करता हूँ। वह तुम्हारे अपराध का विचार करेगी।"

राजा उनकी बात का कुछ जवाब न देकर बोले—"मेरा नियम यही है कि जो व्यक्ति देवता के नाम पर जीवबलि देगा या देने को उद्यत होगा उसको देश-निकाले का दण्ड दिया जायगा। वही दण्ड मैंने तुम्हारे लिए निर्धारित किया है। आठ वर्ष के लिए तुम निर्वासित किये गये। सन्तरी लोग तुमको मेरे राज्य से बाहर रख आवेंगे।"

सन्तरी लोग रघुपति को कचहरी से बाहर ले जाने को उद्यत हुए। रघुपति ने उन लोगों से कहा, "ठहरो।" वे राजा की ओर देख कर बोले, तुम्हारा विचार तो ख़तम हो चुका। अब मैं तुम्हारा विचार करूँगा। तुम ध्यान देकर सुनो। "चतुर्दश देवताओं की पूजा की दो रात जो कोई बाहर निकलेगा वह पुरोहित के निकट दण्डार्ह होगा।" मेरे मन्दिर का यही नियम है। इस पुराने नियम के अनुसार तुम मेरे निकट दण्डनीय हो।"

राजा—"मैं तुम्हारा दण्ड क़बूल करने के लिए प्रस्तुत हूँ।"

सभासदों ने कहा—"इस अपराध का केवल जुर्माना हो सकता है।"

पुरोहित ने कहा—"मैं दो लाख रुपये जुर्माना करता हूँ। अभी देना होगा।"

राजा ने कुछ देर तक सोच कर कहा, "तथास्तु।" ख़ज़ानची को बुला कर उन्होंने दो लाख रुपये देने का हुक्म दे दिया। सन्तरी लोग रघुपति को बाहर ले गये।

रघुपति के चले जाने पर नक्षत्रराय की ओर देख कर राजा कड़क कर बोले—"नक्षत्रराय, तुम अपने अपराध को स्वीकार करते हो या नहीं?"

नक्षत्रराय ने कहा—"महाराज मैं अपराधी हूँ। मुझे क्षमा कीजिए।" दौड़ कर राजा के पाँव में लिपट गये।

महाराज घबरा गये। कुछ देर तक कुछ न बोल सके। आख़िर अपने को सँभाल कर बोले—"नक्षत्रराय, उठो, मेरी बात सुनो, मैं क्षमा करनेवाला कौन? मैं अपने नियम का आप पाबन्द हूँ। जैसे अपराधी बँधा होता है वैसे ही न्याय-कर्ता भी बँधा रहता है। एकही अपराध में एक आदमी को दण्ड दूँगा और एक को क्षमा प्रदान करूँगा, यह क्यों कर हो सकता है? तुम्हीं इसका विचार करो।"

सभासदगण बोल उठे—"महाराज, नक्षत्रराय आपके भाई हैं। आप भाई को क्षमा कीजिए।"

राजा आवाज़ को कुछ कड़ी करके बोले, तुम लोग चुप रहो, जितनी देर तक मैं इस आसन पर बैठा हूँ उतनी देर तक मैं न किसी का भाई, न किसी का मित्र।"

सभासद लोग चारों ओर चुप हो रहे। राजा कहने लगे—"तुम सब सुन चुके हो—मेरे राज्य के लिए यही नियम हुआ है कि जो व्यक्ति देवता के नाम पर जीवबलि देगा या देने को उद्यत होगा उसको देश निकाले का दण्ड दिया जायगा। कल शाम के वक़्त नक्षत्रराय पुरोहित के साथ षड्यन्त्र करके बलि देने की नीयत से एक बालक को चुरा ले गये थे। इस क़सूर के साबित हो जाने पर मैंने इनके लिए आठ वर्ष देश निकाले का दण्ड निर्धारित किया है।

जब सन्तरी लोग नक्षत्रराय को ले जाने पर उद्यत हुए तब राजा ने आसन से नीचे उतर नक्षत्रराय को गले लगा कर रुद्ध-कण्ठ से कहा—"प्यारे, केवल तुम्हारी ही सज़ा नहीं हुई किन्तु मेरी भी सज़ा हुई। न मालूम पूर्व जन्म में मैंने क्या भूल की थी। जितने दिन तुम अपने भाई-बन्धुओं से अलग रहोगे उतने दिन देवता तुम्हारे साथ साथ फिरें और तुम्हारा कल्याण करें।"

बात की बात में यह ख़बर सर्वत्र फैल गई। अन्दर महल से रोने-चिल्लाने की आवाज़ आने लगी। राजा एक

कोठरी में किवाड़ बन्द कर बैठ रहे और हाथ जोड़ कर ईश्वर से प्रार्थना करने लगे—हे प्रभो, यदि मैं कभी अपराध करूँ तो मुझे क्षमा न करो, मुझ पर ज़रा भी दया न दिखाओ, मुझ को मेरे पाप की सज़ा दो। पाप करके दण्ड का भार उठाया जा सकता है किन्तु क्षमा का भार नहीं उठाया जा सकता।"

नक्षत्रराय का प्रेम राजा के मन में दूना जागृत हो उठा। नक्षत्रराय के बाल्यकाल का मुँह उन्हें याद आने लगा। नक्षत्रराय ने जो सब खेल खेले हैं, बातें कहीं हैं, काम किया है सो सब एक एक करके उनके मन में आने लगे। एक एक दिन, एक एक रात अपने सूर्य के प्रकाश में, अपने तारागणों से भरे आकाश में बालक नक्षत्रराय को लेकर उनके सम्मुख उदय होने लगे। राजा की आँखों से आँसू बहने लगा।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

जब राज्य से बाहर होने के लिए रघुपति तैयार हुए तब सिपाहियों ने पूछा—"आप किस तरफ़ जायँगे?" रघुपति ने कहा—पच्छिम की ओर जाऊँगा।"

नौ दिन तक बराबर पच्छिम की ओर जाने के बाद सिपाही लोग ढाका शहर के आस पास पहुँचे। तब वे लोग रघुपति को वहाँ छोड़ कर राजधानी लौट आये।

रघुपति मन ही मन कहने लगे—"कलियुग में ब्राह्मण का शाप फलित नहीं होता। देखें तो ब्राह्मण की बुद्धि से क्या क्या काम होता है। देखें गोविन्दमाणिक्य कैसा राजा है और मैं किस तरह का पुरोहित हूं।"

त्रिपुरा की सरहद में मन्दिर के भीतर मुग़ल राज्य की कुछ विशेष वार्ता नहीं पहुँचती थी, इसीलिए रघुपति ढाका शहर में जाकर मुग़लों की रीति-नीति और राज्य की हालत जानने के लिए उत्कण्ठित हुए।

तब मुग़ल बादशाह शाहजहां का राजत्व समय था। उस समय उनके तीसरे बेटे औरङ्ग़ज़ेब दक्खिन की तरफ़ बीजापुर पर चढ़ाई करने के लिए तैनात किये गये थे। और उनके द्वितीय पुत्र शुजा बङ्गाले के सूबेदार थे। शुजा की राजधानी राजमहल था। बादशाह के सबसे छोटे लड़के मुराद गुजरात के शासक थे। बड़े बेटे उत्तराधिकारी दारा दिल्ली में ही रहा करते थे। बादशाह की उम्र ६९ उनहत्तर बरस की हो चुकी है। उनका शरीर अस्वस्थ होने के कारण बादशाहत के कामों का भार बिलकुल दारा के ही ऊपर पड़ा।

रघुपति ने कुछ दिन तक ढाके में रह कर उर्दू भाषा सीखी। इसके बाद राजमहल की तरफ़ रवाना हुए। जब राजमहल पहुँचे तब हिन्दुस्तान में ख़लबली मच गई थी। सर्वत्र यह ख़बर फैल गई थी कि शाहजहाँ मरणासन्न हैं।

यह ख़बर सुनने के साथ शुजा सेनाओं को साथ लेकर दिल्ली की तरफ़ बड़े वेग से रवाना हुए। बादशाह के चारों बेटे मृतप्राय शाहजहाँ के सिर पर से शाही ताज एक बारगी झपट कर उड़ा लेने का अलग अलग उद्योग कर रहे हैं।

ब्राह्मण (रघुपति) शुजा से शून्य राजमहल को तुरन्त छोड़ कर शुजा के पीछे जाने को तैयार हुए। उन्होंने अपने साथ के मज़दूर लोगों को बिदा कर दिया, साथ में जो दो लाख रुपये थे, उन्हें राजमहल के पासवाले एक घने जंगल के अन्दर किसी जगह गाड़ कर छिपा दिया और उसके ऊपर एक चिह्न रख दिया। अपने पास ख़र्च के लिए थोड़ा सा रुपया रख लिया। जले हुए घर, जनशून्य गाँव और रौंदे हुए धान के खेतों का लक्ष्य करके रघुपति लगातार आगे बढ़ने लगे। उन्होंने संन्यासी का स्वरूप धारण किया। किन्तु संन्यासी के वेष-विन्यास पर भी उस समय आतिथ्य सत्कार पाना कठिन था। कारण यह कि शुजा की फौजें टिड्डी दल की तरह जिस रास्ते होकर गई हैं उसके दोनों तरफ़ अन्नाभाव है। सैनिक लोग झुंड के झुंड घोड़ों और हाथियों के लिए कच्चे ही धान काट कर ले गये हैं। किसानों के लिए अन्न का एक भी दाना नहीं बचा। चारों ओर लूट के मारे कृषि की बड़ी बुरी दशा है। अधिकाधिक लोग तो गाँव छोड़ कर भाग गये हैं। संयोग से दो एक आदमी दिखाई भी देते

हैं तो उनके मुँह पर बिलकुल उदासी छाई है, हँसी का चिह्न तक नहीं। वे सब भयभीत हरिण की तरह चौकन्ने हो रहे हैं। वे लोग न किसी पर विश्वास करते हैं न किसी पर दया करते हैं। एक निर्जन मार्ग में पेड़ के नीचे दो चार मनुष्य हाथ में लाठी लिये बैठे देख पड़ते हैं। पथिकरूपी शिकार के लिए वे दिन भर इन्तज़ार करते हैं। धूमकेतु के पीछे रहनेवाली उल्काराशि की तरह डाकू लोग फ़ौजों के पीछे पीछे लूट से बचे हुए माल को लूटते जाते हैं। यहाँ तक कि मुरदे की देह पर जैसे गीदड़ और कुत्तों में कभी कभी लड़ाई होती है वैसे ही बीच बीच में फ़ौजों के साथ डाकुओं की लड़ाई होती थी। निर्दयता फ़ौजों के लिए खेल की चीज़ थी। बेचारे पार्श्ववर्ती बटोही के पेट में खप से तलवार की नोक चुभो देना या वस्त्र-सहित उसकी खोपड़ो उड़ा डालना वे लोग एक हँसी-खेल समझते थे। बस्तीवाले फ़ौज देख कर डरते हैं, यह देख कर उन्हें बड़ा ही विनोद होता था। लूटने के बाद वे लोग गाँववालों की अनेक प्रकार से दुर्दशा करके दिल बहलाते थे। दो कुलीन ब्राह्मणों को पीठ में पीठ सटा, चोटी से चोटी बाँध, नाक में तीक्ष्ण नस्य सुँघाते थे। दो घोड़ों की पीठ पर एक आदमी को चढ़ा कर घोड़ों को चाबुक मारते थे। दोनों घोड़ों के दो दिशाओं में दौड़ने के कारण वह सवार बीच में धम से गिर कर अपने हाथ पाँव तोड़ डालता

था । वे सब सेनायें रोज़ रोज़ इसी तरह नये नये खेल निकाला करती थीं । अकारण ही गाँव के गाँव जला दिये जाते थे । वे सब कहा करते थे कि बादशाह के सम्मानार्थ यह अग्निलीला (आतशबाज़ी) दिखलाई जा रही है । सैनिकों के इस प्रकार सैकड़ों अत्याचारों के चिह्न यत्र तत्र पड़े हैं। ऐसी जगह में रघुपति का आतिथ्य कौन करेगा ? किसी दिन उपवास करके किसी दिन कुछ थोड़ा सा खाकर वे समय बिताने लगे । एक रात अँधेरे में एक जनशून्य टूटी फूटी झोपड़ी में थक कर सो रहे । सबेरे उठ कर देखते हैं कि वे एक सिर कटी लाश को तकिया बना कर सारी रात सोये रहे । एक दिन दोपहर के समय रघुपति ने भूक से व्याकुल होकर किसी के घर जाकर देखा कि एक आदमी अपने खुले टूटे फूटे सन्दूक़ पर झुका हुआ पड़ा है, जान पड़ता था, मानो वह अपने लुटे हुए धन के लिए सोच कर रहा है । पास जाकर ज़रा हाथ से धकेलने के साथ वह लुढ़क कर नीचे गिर गया । वह मुरदे की ठठरी मात्र थी । उसके प्राण निकले बहुत दिन हो गये थे ।

एक दिन रघुपति एक घर में सोये हैं । रात बिलकुल ख़तम नहीं हुई है । सुबह होने में अभी कुछ देर है । ऐसे समय में धीरे धीरे द्वार खुल पड़ा । शरद ऋतु की चाँदनी के साथ ही साथ कितनी ही परछाहियाँ घर के भीतर आ पड़ीं ।

लोगों के मन्द मन्द बोलने की कुछ आहट सुन पड़ी। रघुपति चौंक कर उठ बैठे। उनके उठ बैठने के साथ कितनी ही स्त्रियाँ डर कर कुछ बोल उठीं। एक मर्द आगे बढ़ कर बोला—"कौन है रे ?"

रघुपति ने कहा—"मैं एक पथिक ब्राह्मण हूँ। तुम लोग कौन हो ?"

"यह हमारा ही घर है। हम लोग घर छोड़ कर भाग गये थे। जब सुना कि मुग़लों की फ़ौज चली गई तब यहाँ आये हैं।"

रघुपति ने पूछा—"मुग़लों की सेना किस तरफ़ गई है ?"

उसने कहा—विजयगढ़ की तरफ़। अब उन लोगों ने विजयगढ़ के जंगल में प्रवेश किया होगा।"

रघुपति अब और कुछ बात न करके वहाँ से तुरन्त चला गया।

बीसवाँ परिच्छेद

विजयगढ़ का विस्तृत वन चोर-डाकुओं का अड्डा है। जंगल के बीच हो कर जो सड़क गई है उसके दोनों तरफ़ मनुष्यों की कितनी ही ठठरियाँ पड़ी हैं, जिन पर जंगली फूल

फूल रहे हैं। और कुछ चिह्न देखने में नहीं आता। जंगल के भीतर अधिकतर बड़, बबूल और नीम के पेड़ हैं। सैकड़ों तरह की लतायें और पौदे हैं। बीच बीच में कोई कोई गढ़ा पोखर सा दिखाई देता है। निरन्तर पत्ते पड़ने और सड़ने के कारण उस गढ़े का पानी बिलकुल हरा हो गया है। छोटी छोटी कितनी ही पगडंडियाँ इधर उधर साँप की तरह टेढ़ी मेढ़ी हो कर घने जंगल में चली गई हैं। पेड़ों की डाल डाल पर झुंड के झुंड बानर बिराज रहे हैं। बड़ के पेड़ की डालों पर से सैकड़ों वट-जटायें तथा बानरों की पूँछें झूल रही हैं। टूटे फूटे मन्दिर के आँगन में हरसिंगार के वृक्ष उजले उजले फूलों से तथा बानरों के दाँतों की चमक से बिलकुल ढके हैं। शाम के वक्त बड़े बड़े झंखाड़ पेड़ों पर अगणित तोतों के शब्दों से घने जंगल का घोर अन्धकार मानो खण्ड खण्ड हो कर फटा जा रहा है। आज इस विस्तृत वन में प्रायः बीस हज़ार सेना घुस पड़ी है। डालों, पत्तों, लताओं और पौदों से घिरा हुआ यह जंगल बड़ा गोलाकार मालूम होता है जैसे तीखे नख चोंच वाले बाज़पक्षी के समान उन सेनाओं का एक मात्र घोंसला हो। एक साथ इतनी सेनाओं का आगम देख कर अगणित कौए काँव काँव शब्द करते हुए दल बाँध कर आसमान में घूमने लगे। डाल पर आ कर बैठने का उन्हें साहस नहीं होता। किसी तरह का गड़बड़ न करने की सिपहसालार की सख़्त

ताक़ीद थी। सैनिक गण सारे दिन सफ़र करके शाम के वक्त जंगल में आ कर सूखी लकड़ियाँ बटोर कर रसोई बना रहे हैं और आपस में चुपके चुपके बात चीत कर रहे हैं। उन लोगों की गुनगुनाहट से सारा जंगल गनगना गया है। इसी से सन्ध्या समय में भी झिल्लियों की झनकार सुनाई नहीं देती। पेड़ों में तनों से बँधे हुए घोड़े रह रह कर खुरों से धूल उड़ा रहे हैं और हिन हिना उठते हैं, जिससे सारा जंगल काँप उठता है। टूटे मन्दिर के पास ख़ाली जगह में शाह-शुजा का ख़ेमा खड़ा है। और सब लोग पेड़ों के नीचे ही ठहरे हैं।

सारा दिन बराबर चल कर रघुपति ने जंगल के भीतर पैर रक्खा। तब रात हो चुकी है। अधिकांश सैन्यगण गाढ़ी नींद में सो रहे हैं। थोड़ी सी सेनायें चुपचाप पहरा दे रही हैं। बीच बीच में किसी किसी जगह आग बल रही है। जान पड़ता है, मानो अन्धकार ने बड़े कष्ट से अपनी नींद भरी लाल आखें खोली हैं। वन में पाँव रखने के साथ मानो रघुपति ने बीसों हज़ार सेनाओं के साँस लेने का शब्द सुन पाया। हज़ारों दरख़्त अपनी शाखाओं को फैला कर जंगल का पहरा दे रहे हैं। जिस तरह उल्लू पक्षी अपने तुरत के जने बच्चे के ऊपर छाती रख पंख पसार कर बैठता है, उसी तरह जंगल के बाहरवाली विशाल रात्रि जंगल के भीतर-

वाली रात को दबा कर अपने डैनों से छिपा कर चुप चाप बैठी है। जंगल के भीतरवाली रात मुँह छिपा कर सो रही है और जंगल के बाहर वाली रात सिर उठा कर जाग रही है। रघुपति उस रात जंगल के बाहरी हिस्से में सो रहे।

सबेरे के वक्त, अचेत सोते हुए रघुपति को किसी ने आकर एकाएक झँझोड़ा, हिलाया। रघुपति हड़बड़ा कर उठ बैठे। देखा कि पगड़ी बाँधे लम्बी दाढ़ी लटकाये कई एक मुग़ल सैन्य अपनी बोली में उनसे कुछ कह रहे हैं। जिसे सुन कर उन्होंने ठीक अनुमान किया कि वे लोग गाली दे रहे हैं। उन्होंने भी बँगला भाषा में उन लोगों को साला कह कर अपने सम्बन्ध का परिचय दिया। वे लोग रघुपति के साथ खेंचा-तानी करने लगे। रघुपति ने कहा—"तुम लोगों ने क्या ठट्ठा समझ लिया है?" यद्यपि उन लोगों के आचरण में ठट्ठे का कोई लक्षण ज़ाहिर नहीं पाया। जंगल के भीतर से वे लोग उन्हें बेख़ौफ़ खींच कर ले जाने लगे। रघुपति विशेषरूप से अपनी अप्रसन्नता प्रकट करके बोले—"खेंचातानी क्यों कर रहे हो। मैं ख़ुद चलता हूँ। नहीं तो मैं इतनी दूर आता क्यों?" सैनिक हँसने लगे और उनकी बँगला बोली का अनुकरण करने लगे। धीरे धीरे उनके चारों ओर अधिक सेनायें जमा हो गईं। उनको लेकर भारी कोलाहल मच गया। उनकी दुर्दशा का कोई अन्त न रहा। एक पलटन ने गिलहरी की पूँछ पकड़ कर उसको उनके मुँडे हुए माथे पर धर दिया यह

देखने के लिए कि उस मुंडित मस्तक को फल के धोखे वह खाता है या नहीं, एक पलटन उनकी नाक के पास एक मोटे बेंत को टेढ़ा कर साथ साथ चली, उस झुके हुए बेंत को छोड़ देने से रघुपति के मुँह पर से नाक की मर्यादा एकबारगी शून्य होने की सम्भावना थी। सैनिकों की हँसी से सारा जंगल गूँजने लगा। आज दोपहर दिन में युद्ध करना होगा। इसी से सबेरे दिल बहलाने के लिए रघुपति को उन लोगों ने एक भारी तमाशा बना डाला। तमाशे के सभी दृश्य ख़तम हो जाने पर सेनायें ब्राह्मण को शुजा के ख़ेमे में ले गईं। शुजा को देख कर रघुपति ने सलाम नहीं किया, वे देवता और ब्राह्मणों के सिवा और किसी के सामने सिर नहीं नवाते थे। इसी से अपने सिर को उन्नत करके खड़े रहे। हाथ उठा कर बोले—"शाहजहाँ बादशाह की जय हो।"

शुजा शराब का प्याला हाथ में लिये बैठे थे। सुस्ती से भरी हुई आवाज़ में नफ़रत के साथ बोले—"क्या मामला है?"

सैनिकों ने कहा—"जनाब यह दुशमनों का जासूस छिप कर हम लोगों का भेद लेने के लिए आया था। हम लोगों ने इसे पकड़ कर हज़ूर में हाज़िर किया है।"

शुजा ने कहा—"अच्छा, अच्छा, वह बेचारा देखने के लिए आया है। उसे सब चीज़ें अच्छी तरह दिखला कर छोड़ दो। अपने मुल्क में जा कर लोगों से सब हाल कहेगा।"

रघुपति ने बिगड़ी हिन्दी भाषा में कहा—"हज़ूर का मातहद में हम कोई दु काम करने को लिए अर्ज करता हूँ।"

शुजा ने आलस्य के साथ हाथ हिला कर उन्हें शीघ्र चले जाने का इशारा किया। बोले—"ओफ़, बड़ी गरमी है।" जो पंखा झलता था वह दुगुना ज़ोर लगा कर पंखा झलने लगा।

दारा ने अपने बेटे सुलेमान को जयसिंह की रक्षा में शुजा का आक्रमण रोकने के लिए भेजा है। उनका बृहत् सैन्यदल नज़दीक़ आ पहुँचा है, शुजा ने यह ख़बर पाई है, इसी से वह विजयगढ़ का क़िला दख़ल करके वहाँ फ़ौज एकत्र करने के लिए आतुर हो पड़े हैं। शुजा के हाथ में क़िला और सरकारी ख़ज़ाना सौंपने का प्रस्ताव ले कर विजयगढ़ के महाराज विक्रमसिंह के पास दूत गया था। विक्रमसिंह ने उस दूत की ज़बानी कहला भेजा—'मैं केवल दिल्लीपति बादशाह शाहजहाँ को तथा संसार के स्वामी शङ्कर को जानता हूँ। शुजा कौन हैं? मैं उन्हें नहीं जानता।"

शुजा रुकती ज़बान से बोले—"ओ! भारी बे अदब! फिर नाहक़ लड़ाई करनी होगी।"

रघुपति ने इन सब बातों को सुन लिया। सेनाओं के हाथ से छुटने के साथ वे विजयगढ़ की तरफ़ चलपड़े।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

विजयगढ़ पहाड़ के ऊपर है। विजयगढ़ का जंगल क़िले के आस पास जा कर ख़तम हुआ है। जंगल से बाहर हो कर रघुपति ने एकाएक देखा कि पत्थरों का बना हुआ ऊँचा क़िला माना काले आसमान में तन कर खड़ा है। जिस प्रकार जंगल अपने हज़ारों वृक्ष-समूहों से ढका रहता है उसी प्रकार क़िला भी अपने पत्थरों के बीच आप ही बन्द है। जंगल सावधान है तो क़िला भी सतर्क है। जंगल बाघ की तरह छिप कर पूँछ दबाये बैठा है तो क़िला सिंह की तरह अपने आलों को फैला कर और गर्दन टेढ़ी किये खड़ा है। जंगल धरती में कान लगा कर सुन रहा है। क़िला आसमान में सिर उठा कर देख रहा है।

रघुपति के जंगल से निकलने के साथ क़िले की दीवाल के ऊपरवाले सैनिक चमक उठे। तुरही बजने लगी। क़िला माना एकाएक सिंह की तरह गरज, अपने नख और दाँतों को निकाल, भौंहें चढ़ा, तन कर खड़ा हो गया।

रघुपति जनेऊ दिखा कर और हाथ उठाकर इशारा करने लगे। सिपाही लोग सावधान होकर खड़े रहे।

रघुपति जब क़िले की दीवाल के आस पास गये तब सेनाओं ने पूछा—"तुम कौन हो?"

रघुपति ने कहा—"मैं अतिथि ब्राह्मण हूँ।"

क़िले के मालिक महाराज विक्रमसिंह बड़े धार्मिक हैं। देवता, ब्राह्मण और अतिथियों की सेवा में सदा तत्पर रहते हैं। जनेऊ रहने से फिर क़िले के अन्दर घुसने के लिए और किसी परिचय की आवश्यकता न थी। किन्तु आज लड़ाई के दिन क्या करना उचित है इसका सैनिक लोग कुछ ठीक न कर सके। रघुपति ने कहा—"तुम लोग यदि मुझे आश्रय न दोगे तो मुसलमानों के हाथ से मेरी मृत्यु होगी।"

विक्रमसिंह के कानों में जब यह बात पड़ी तब उन्होंने क़िले के अन्दर ब्राह्मण को आश्रय देने के लिए आज्ञा दी। क़िले की दीवाल पर से एक सीढ़ी नीचे लटका दी गई। रघुपति उसी के सहारे क़िले के अन्दर दाख़िल हुए।

क़िले के अन्दर युद्ध की प्रतीक्षा से सभी लोग व्यग्र हो रहे हैं। ब्राह्मण के सत्कार का भार ख़ुद बूढ़े काका साहब ने लिया। उनका असल नाम है खड्गसिंह; परन्तु उन्हें कोई काका साहब कहता है और कोई सूबेदार साहब। इस तरह उन्हें लोग क्यों कहा करते हैं, इसका कोई कारण नहीं पाया जाता। इस संसार में उनके एक भी भतीजा नहीं, भाई नहीं, उन्हें काका होने का कोई हक़ नहीं और आगे होने की कोई सम्भावना भी नहीं। जितनी उनके भतीजों की संख्या है, उनकी सूबेदारी भी उसकी अपेक्षा अधिक नहीं है। अर्थात्

उनके अधिकार में एक भी सूबा नहीं। किन्तु आज तक किसी ने उनके ओहदे की निसबत किसी तरह का उज्र वा सन्देह नहीं किया। जो लोग बिना भतीजे के चचा और बिना सूबे के सूबेदार कहलाते हैं उन्हें पदच्युत होने का कोई डर नहीं। अनित्यता के साथ संसार का और चञ्चलता के साथ लक्ष्मी का जो सम्बन्ध है वही उन ओहदों के साथ उनका है। जब कारण नहीं तब कार्य कैसा?

काका साहब ने "वाह वाह! ये तो यथार्थ में ब्राह्मण हैं" यह कह कर भक्तिभाव से प्रणाम किया। रघुपति का स्वरूप दीप-शिखा की तरह देदीप्यमान था जिसे देख कर पतङ्ग के सदृश लोग एकाएक मुग्ध हो जाते थे।

काका साहब ने संसार के वर्तमान समय की शोचनीय अवस्था पर खिन्न होते हुए कहा—"देवता जी, तब के से ब्राह्मण आज कल कितने मिलते हैं?"

रघुपति—"बहुत थोड़े।"

काका साहब—"पहले ब्राह्मणों के मुँह में आग रहती थी अब सब आग पेट के आश्रित हुई है।"

रघुपति—"सो भी क्या पूर्ववत् है।"

काका साहब ने सिर हिला कर कहा—"ठीक बात। अगस्त्य मुनि जिस प्रमाण से पानी पी गये उस अन्दाज़ से

यदि भोजन करते। इस बात को आप एक बार ग़ौर करके देखिए।"

रघुपति ने कहा—"और भी कुछ उदाहरण हैं?"

काका साहब—"हाँ, हैं क्यों नहीं। जह्नु मुनि की प्यास की बात सुनी जाती है पर उनकी भूक की बात कहीं लिखी हुई नहीं है। अनुमान करके देखिए। हड़ खाने ही से भूक कम होती है सो बात नहीं है।

रघुपति ब्राह्मणों की महिमा स्मरण करके गम्भीर स्वर में बोले—"नहीं साहब, भोजन के ऊपर उन लोगों का विशेष ध्यान नहीं था।"

काका साहब ने दाँतों में जीभ दबा कर कहा—"राम, राम, यह आप क्या कहते हैं। उन लोगों का जठरानल बड़ा ही प्रबल था, जिसका पूरा प्रमाण है। इसे क्यों नहीं सोचते? समय के हेर फेर से सभी आग बुझ गई। होम की आग भी नहीं जलती, परन्तु रघुपति ने कुछ दुखी होकर कहा—"होम की आग अब क्यों कर जलेगी? देश में घी रहा नहीं, म्लेच्छ लोग गायों को खाये जाते हैं। अब होम की सामग्री मिलती है कहाँ? होम की आग न जलने से ब्राह्मणों का तेज अब कितने दिनों तक ठहरेगा?" यह कह कर रघुपति अपनी जलानेवाली गुप्त शक्ति का पूरे तौर से अनुभव करने लगे।

काका साहब ने कहा—"महाशय, आपने ठीक कहा है। जो सब गायें आज कल मरती हैं उन्होंने मनुष्य-योनि में आकर जन्म लेना शुरू किया है तब उनके पास से घी मिलने की आशा कैसे की जाय। इसीसे किसी के दिमाग़ में ताक़त नहीं। आपका आना कहाँ से होता है?"

रघुपति—त्रिपुरा राजधानी से।"

विजयगढ़ के बाहरी हिन्दुस्तान के भूगोल (नक़शा) अथवा इतिहास के सम्बन्ध की बातें काका साहब को थोड़ी ही मालूम थीं। विजयगढ़ के अलावा हिन्दुस्तान में और कुछ विषय जानने योग्य है उस पर भी उनको विश्वास नहीं है। बिलकुल अनुमान के ऊपर ही निर्भर होकर बोले—"अहा, त्रिपुरा के राजा तो बहुत बड़े हैं।"

रघुपति ने उसका पूर्णरूप से अनुमोदन किया।

काका साहब—'वहाँ आप क्या करते हैं?"

रघुपति—"मैं त्रिपुरा का राजपुरोहित हूँ।"

काका साहब आँख मूँद कर और सिर हिला कर बोले—"अहा! रघुपति के ऊपर उनकी भक्ति बहुत अधिक बढ़ गई। आपका यहाँ किस लिए आना हुआ?"

रघुपति—"तीर्थ-दर्शन के लिए।'

धम से आवाज़ हुई। दुश्मनों ने क़िले पर आक्रमण किया है। काका साहब ने हँस कर और आँखें दबा कर कहा—"कुछ नहीं, ढेले छोड़ रहे हैं।" विजयगढ़ के ऊपर काका साहब को जितना दृढ़ विश्वास था विजयगढ़ का पत्थर उतना मज़बूत नहीं था। जहाँ कोई परदेशी यात्री क़िले के अन्दर आया वहाँ उसके ऊपर काका साहब अपना पूरा अधिकार जमा बैठते थे और विजयगढ़ की तारीफ़ उसके मन में जमा देते थे। त्रिपुरा राजधानी से रघुपति आये हैं। ऐसा अतिथि संसार में मिलना कठिन है। इसीसे काका साहब मारे ख़ुशी के फूले नहीं समाते। रघुपति के साथ वे विजयगढ़ के प्राचीनकालिक सार विषयों पर समालोचना करने लगे। उन्होंने कहा—"ब्रह्मा का कोष और विजयगढ़ का क़िला दोनों प्रायः एक ही समय में उत्पन्न हुए हैं। और मनु महाराज के बाद से ही महाराज विक्रमसिंह के पूर्व पुरुष इस क़िले का उपभोग करते आते हैं, इस विषय में सन्देह हो ही नहीं सकता।" इस क़िले को महादेव का क्या वर है और इस क़िले में सहस्रार्जुन किस तरह क़ैद हुए थे सो सब बातें भी रघुपति के आगे छिपी न रहीं।

शाम के वक्त ख़बर आई कि शत्रुदल क़िले की कोई हानि नहीं पहुँचा सका। उन लोगों ने तोपें लगाई थीं, पर तोपों के गोले क़िले तक नहीं पहुँच सके। काका साहब ने हँस

कर रघुपति की तरफ़ देखा। उसका अभिप्राय यही था कि क़िले के प्रति जो शिवजी का अकाट्य वर है उसका ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण और हो ही क्या सकता है? जान पड़ता है, नन्दी स्वयं आकर तोप के गोले रोकते गये हैं। उन गोलों से कैलास पर गणेश और कार्तिकेय गोली खेलेंगे।

बाईसवाँ परिच्छेद

शाह शुजा को किसी तरह क़िला हस्तगत करा देना ही रघुपति का अभिप्राय था। उन्होंने जब सुना कि शुजा क़िला दख़ल करने के लिए मुस्तैद हैं, तब अपने मन में सोचा कि मित्र भाव से क़िले के भीतर प्रवेश करके किस प्रकार वे शुजा को क़िले के आक्रमण में सहायता पहुँचावेंगे। किन्तु ब्राह्मण बेचारे लड़ाई का हाल क्या जानें। क्या करने से शुजा की सहायता हो सकती है इसका वे निरूपण न कर सके।

दूसरे दिन फिर लड़ाई शुरू हुई। शत्रु की सेनाओं ने बारूद के द्वारा क़िले की दीवार का कुछ हिस्सा उड़ा डाला, किन्तु ऊपर से लगातार गोले बरसने के सबब वे लोग क़िले के अन्दर न जा सके। टूटा अंश बात की बात में जोड़ कर पूरा कर दिया गया। आज छोटे छिटके क़िले के अन्दर गोले

आ आ कर गिरने लगे। क़िले के सैनिकों में से दो चार हता-हत भी हुए।

"महाशय, कुछ डर नहीं, यह केवल कुतूहल मात्र है।" यह कह कर काका साहब रघुपति को साथ ले कर क़िले के चारों तरफ़ देखते दिखलाते घूमने लगे। कहाँ अस्त्र रक्खे जाते हैं, कहाँ भण्डार है, कहाँ घायल सेनाओं की दवा होती है, कहाँ क़ैदख़ाना है और कहाँ दरबार होता है ये सब जगह तमक तमक कर दिखलाने लगे और बार बार रघुपति के मुँह की तरफ़ देखने लगे।

रघुपति ने कहा—"वाह साहब, यहाँ के कारख़ाने तो तारीफ़ के लायक़ हैं। त्रिपुरा का क़िला इसकी बराबरी नहीं कर सकता, किन्तु त्रिपुरा के क़िले में छिप कर भागने के लिए एक बड़ा ही आश्चर्यजनक सुरङ्ग का रास्ता है, इस क़िले में तो मैं वैसा कोई रास्ता नहीं देखता।"

काका साहब कुछ बोलना चाहते थे परन्तु एकाएक अपने को सँभाल कर बोले—"नहीं, इस क़िले में वैसा कोई रास्ता नहीं है।"

रघुपति ने बड़ा ही आश्चर्य प्रकट करके कहा—"इतने बड़े क़िले में एक भी सुरङ्ग नहीं!"

काका साहब कुछ ठिठक कर बोले—"नहीं ऐसा नहीं हो सकता। सुरङ्ग ज़रूर होगी। यह दूसरी बात है कि हमें वह मालूम न हो।"

रघुपति ने हँस कर कहा—"तब तो नहीं के बराबर ही है। जब आप ही को मालूम नहीं तब और किसको मालूम होगा?"

काका साहब ने कुछ देर तक तो बड़ा गम्भीर भाव धारण किया, पर फिर कुछ देर के बाद हरे राम राम, कह कर चुटकी बजाते हुए जंभाई ली। तदनन्तर डाढ़ी और मूँछों पर दो एक बार हाथ फेर कर एकाएक बोले—"महाशय, आप पूजा पाठ कर लीजिए। आपको कहने में कोई हर्ज नहीं। क़िले के अन्दर आने और जाने के दो गुप्त मार्ग हैं किन्तु उन्हें बाहर के लोगों को दिखलाना मना है।"

रघुपति ने कुछ सन्देह के स्वर से कहा—"हाँ, होगा।"

काका साहब ने देखा कि यह उन्हीं का दोष है। एक बार "नहीं है" और एक बार "है" कहने से स्वभावतः लोगों को सन्देह हो सकता है। एक विदेशी की दृष्टि में त्रिपुरागढ़ के मुक़ाबले में विजयगढ़ का क़िला किसी अंश में न्यून हो जायगा, यह काका साहब को सह्य नहीं था।

उन्होंने कहा—"महाशय, मैं जानता हूँ। आपका त्रिपुरा देश यहाँ से बहुत दूर है और आप ब्राह्मण हैं। देवता की पूजा अर्चाही आपका एकमात्र कार्य है। आपके द्वारा इन सब बातों के प्रकट होने की कोई सम्भावना नहीं।"

रघुपति ने कहा—"साहब, मुझको इससे क्या प्रयोजन। अगर आपको शक हो तो उन सब बातों को रहने दीजिए। मैं ब्राह्मण का बालक हूँ। मुझको क़िले की बातों से क्या मतलब।"

काका साहब दाँतों में जीभ दबा कर बोले—"अरे राम! राम! आपसे सन्देह किस बात का। चलिए आपको एक बार दिखला कर ले आवें।"

इस तरफ़ क़िले के बाहर शुजा की सेनाओं में एकाएक हल्ला मच गया। जंगल के भीतर शुजा का ख़ेमा था। सुलेमान और जयसिंह की सेनाओं ने आ कर एकाएक उनको गिरफ़्तार कर लिया और वे छिपे तौर से क़िले के ऊपर चढ़ाई करनेवाली शुजा की फ़ौज़ों पर टूट पड़ीं। शुजा की सेना युद्ध न कर बीस तोपें पीछे छोड़ कर भग गई।

क़िले के अन्दर धूम धाम होने लगी। विक्रमसिंह के पास सुलेमान का दूत ज्यों ही पहुँचा त्योंही उन्होंने क़िले का फाटक खोल दिया और स्वयं जा कर सुलेमान और राजा जयसिंह को आगे से ले आये। दिल्ली बादशाह की सेनाओं, घोड़ों

और हाथियों से क़िला भर गया। विजय-पताका फहराने लगी। शंख और जीत के बाजे बजने लगे।

काका साहब की सफ़ेद मूँछों के नीचे स्वच्छ हँसी पूर्णरूप से विकसित हो उठी।

तेईसवाँ परिच्छेद

काका साहब के लिए आज क्या ही आनन्द का दिन है। आज दिल्लीपति के राजपूत सैनिक विजयगढ़ के पाहुने हुए हैं। परम प्रतापी शाह शुजा आज विजयगढ़ के क़ैदी बने हैं। सहस्रार्जुन के बाद विजयगढ़ को ऐसा क़ैदी और नहीं मिला था। सहस्रार्जुन की बन्धन दशा याद कर और लंबी साँस खींच करके काका साहब ने सुचेतसिंह राजपूत से कहा—"ध्यान दे कर देखो, हज़ार हाथों में हथकड़ी पहनाते वक्त कितना आयोजन करना पड़ा होगा। कलियुग के उदय होने से अब धूम धाम नाम मात्र की रह गई है। राजा के बेटे ही क्यों न हों, दो हाथों से अधिक हाथवाले लोग बाज़ार में ढूँढ़ने से भी कहीं नहीं मिलते। दो हाथों को बाँध कर क्या कुछ सुख नहीं? कुछ विनोद नहीं?"

सुचेतसिंह ने हँस कर और अपने हाथों की तरफ़ देख कर कहा—"ये दोनों हाथ ही यथेष्ट हैं।"

काका साहब कुछ सोच कर बोले—"हाँ, यह ठीक है, उस ज़माने में काम बहुत था। इस ज़माने में काम इतना कम हो गया है कि इन दोनों हाथों की ही कुछ कैफ़ियत देते नहीं बनती। अधिक हाथ होने से यही कि और भी मूँछों पर ताव देता।"

आज काका साहब के वेष-विन्यास में कोई कमी न थी। दाढ़ी के पके हुए बालों को ठोड़ी के नीचे से दो हिस्सों में बाँट कर दोनों कानों में लपेट लिये हैं। मूँछ को ऐंठ कर दोनों तरफ़ कान के पास तक ले गये हैं। सिर पर टेढ़ी पगड़ी है। कमर में टेढ़ी तलवार लटक रही है। जड़ीदार जूते की नोक ऐंठी हुई सींग की तरह टेढ़ी होकर ऊपर की ओर उठी हुई है। आज काका साहब के चलने का ढँग ऐसा जान पड़ता है जैसे विजयगढ़ का महत्त्व उन्हीं के सर्वाङ्ग में लहरा रहा है। आज इन सब समझदार लोगों के निकट विजयगढ़ की महिमा प्रमाणित हो जायगी। इस ख़ुशी के मारे उनको न खाने की सुधि है न सोने की।

सुचेतसिंह को साथ लेकर उन्होंने प्रायः दिन भर क़िले की देख भाल की। जिस जगह सुचेतसिंह किसी प्रकार का आश्चर्य प्रकट नहीं करते थे उस जगह काका साहब स्वयं "वाह, वाह" कह कर अपनी उमङ्ग राजपूत वीर के हृदय में संचारित करने की कोशिश करते थे। विशेष करके उन्हें

क़िले की दीवार के गठन की निसबत अधिकतर श्रम करना पड़ा। जिस तरह क़िले की दीवार खड़ी है, सुचेतसिंह उससे भी अधिक स्थिर भाव से खड़े हैं। उनके मुँह पर किसी प्रकार का भाव प्रकट नहीं पाया। काका साहब घूम फिर कर उन्हें एक बार दीवार की बाईं तरफ़ एक बार दाहिनी तरफ़ एक बार ऊपर और एक बार नीचे ले आने जाने लगे। और बार बार कहने लगे—"क्या कहना है।" परन्तु वे सुचेतसिंह के हृदयरूपी दृढ़ क़िले पर कुछ भी अधिकार न कर सके। आख़िर सन्ध्या समय थक कर सुचेतसिंह बोल उठे—"मैंने भरतपुर का क़िला देखा है, वैसा और नज़र नहीं आता।"

काका साहब किसी के साथ विवाद नहीं करते। बहुत उदास होकर बोले—"ज़रूर, ज़रूर, यह बात ठीक ही कहते हो।"

उन्होंने लम्बी साँस खींच कर क़िले के संबन्ध में बातें करना छोड़ दिया। विक्रमसिंह के पूर्व पुरुष दुर्गासिंह की बात उठाई। उन्होंने कहा—"दुर्गासिंह के तीन बेटे थे। उनके सबसे छोटे बेटे चित्रसिंह का एक विचित्र अभ्यास था। वे हर रोज़ अन्दाज़न आध सेर छुहारा दूध में औटा कर खाते थे। उनका शरीर भी वैसा ही बलिष्ठ था। अच्छा, तुम जो भरतपुर के क़िले की बात कहते हो सो क़िला बहुत बड़ा

ज़रूर होगा, लेकिन ब्रह्मवैवर्तपुराण में तो उसका कहीं ज़िक्र नहीं है।"

सुचेतसिंह ने हँस कर कहा—उसके लिए काम में कोई बाधा नहीं होती।

काका साहब हँस कर बोले—"हा हा हा, सो ठीक है, सो ठीक है। तुम क्या जानते हो, त्रिपुरा का क़िला भी कुछ साधारण क़िला नहीं ? लेकिन विजयगढ़ के मुक़ाबले…"

सुचेतसिंह—"त्रिपुरा फिर किस प्रदेश में है ?"

काका साहब—"वह बहुत बड़ा देश है। इतनी बातों का प्रयोजन क्या। वहाँ के राजपुरोहित अतिथिरूप से हमारे क़िले में आकर ठहरे हैं। उनके मुँह से तुम सब सुन लोगे।"

परन्तु आज वे ब्राह्मण ढूँढ़ने से भी कहीं न मिले। काका साहब का दिल उनके लिए रोने लगा। वे मन ही मन कहने लगे—"इन देहाती राजपूतों की अपेक्षा वह ब्राह्मण कहीं बढ़ कर अच्छा था।" वे सुचेतसिंह के निकट सैकड़ों मुँह से रघुपति की प्रशंसा करने लगे। तथा विजयगढ़ के विषय में रघुपति की क्या राय थी उसे भी उन्होंने प्रकट किया।

चौबीसवाँ परिच्छेद

काका साहब के हाथ से छुट कर सुचेतसिंह को और कोई ज़्यादा मिहनत उठाना नहीं पड़ा। कल सुबह क़ैदी (शुजा) के साथ बादशाही फ़ौजों के जाने का दिन मुक़र्रर हुआ है। सेनायें सफ़र का सामान ठीक करने लगीं। क़ैदख़ाने में शाहशुजा पूरे तौर से नाराज़ होकर मन ही मन कह रहे हैं—"ये लोग कैसे बे अदब हैं। ख़ेमे में से मेरी गुड़गुड़ी ला देंगे सो भी इन लोगों के मन में विचार न हुआ।

विजयगढ़ के पहाड़ के नीचे एक गहरा नाला है। उसी नाले की धार में एक जगह बिजली का जला एक पीपल का तना खड़ा है। उसी तने के पास गहरी रात में रघुपति ग़ोता लगा कर ग़ायब हो गये।

गुप्त रीति से क़िले में घुसने के लिए जो सुरङ्ग का रास्ता है, इस नाले की गहरी तलहटी में ही उसका प्रवेश-द्वार है। उस रास्ते से जाकर सुरङ्ग की अन्तिम जगह में पहुँच कर नीचे से ज़ोर से धक्का लगाने के साथ एक पत्थर का तख़्ता ऊपर उठ जाता है। किन्तु ऊपर से कोई तख़्ता उठाना चाहे तो वह किसी तरह उठाया नहीं जा सकता। इसी से जो लोग क़िले के अन्दर हैं वे उस रास्ते से बाहर नहीं जा सकते।

शुजा कारागार में पलङ्ग के ऊपर सोये हैं। पलङ्ग के सिवा घर में और कोई बिस्तर नहीं है। एक चिराग़ बल रहा है। एकाएक घर में सुरङ्ग का मुँह खुल पड़ा। रघुपति धीरे धीरे सिर उठा कर नीचे से ऊपर आये। उनका सारा शरीर भीगा है। उनके भींगे कपड़े से चू चूकर पानी बहा जा रहा है। रघुपति ने धीरे से शुजा की देह पर हाथ रक्खा। शुजा चौंक कर और आँख मल कर कुछ देर बैठे रहे, फिर अलसाये हुए स्वर में बोले—"क्या बखेड़ा है? ये लोग क्या मुझको रात में भी न सोने देंगे। तुम लोगों के व्यवहार से मैं अचम्भे में हूँ।"

रघुपति ने नरमी से कहा—"शाहज़ादा साहब, उठ चलिए, मैं वही ब्राह्मण हूँ। याद करके मुझे देखिए। आइन्दा भी मेरी याद रखिएगा।"

दूसरे दिन सुबह बादशाही फौज़ जाने को तैयार हुई। शुजा को नींद से जगाने के लिए राजा जयसिंह स्वयं क़ैदख़ाने में गये। देखा—शुजा तब भी बिछौने से नहीं उठे हैं। पास में जा कर स्पर्श किया—शुजा नहीं हैं, उनके कपड़े पड़े हैं। शुजा का पता नहीं। घर के बीच में सुरङ्ग का मुँह खुला है। उसका पत्थर का ढँकना अलग पड़ा है।

क़ैदी के भागने की बात क़िले में फैल गई। खोजने के लिए चारों तरफ़ लोग दौड़े। राजा विक्रमसिंह का सिर नीचा

हो गया। क़ैदी किस प्रकार भागा उसके विचारार्थ एक दरबार हुआ।

काका साहब की वह आनन्द-सहित गरबीली चाल कहाँ चली गई। वे पागल की तरह, "ब्राह्मण कहाँ है, ब्राह्मण कहाँ है" यह कह कर चारों तरफ़ ढूँढ़ते फिरते हैं। ब्राह्मण का कहीं पता नहीं।

काका साहब माथे पर से पगड़ी उतार कर कुछ देर तक माथे पर हाथ रख कर बैठ रहे। सुचेतसिंह ने पास आ कर कहा—"काका साहब, क्या ही आश्चर्य घटना है! क्या ये सब भूत के व्यापार तो नहीं हैं?" काका साहब उदासीन भाव से गर्दन हिला कर बोले—"नहीं सुचेतसिंह, यह भूत का व्यापार नहीं है। यह एक अत्यन्त बुद्धिहीन बूढ़े का व्यापार और एक विश्वासघाती पामर का काम है।"

सुचेतसिंह ने विस्मित हो कर कहा—"यदि तुम उसको जानते हो तो उसे पकड़वा क्यों नहीं देते?"

काका साहब ने कहा—"उनमें एक तो भाग गया है और एक को गिरफ़्तार कर राज-दरबार में लिये जाता हूँ।" यह कह और पगड़ी पहन कर उन्होंने दरबारी कपड़े पहन लिये।

उस समय दरबार में पहरेदार लोगों का इजहार लिया जा रहा था। काका साहब सिर झुकाये दरबार में हाज़िर हुए। वे विक्रमसिंह के पैरों के पास तलवार रख कर बोले—

"महाराज, मुझको क़ैद करने का हुक्म दिया जाय। अपराधी मैं हूँ।"

राजा ने विस्मित हो कर कहा—"काका साहब, क्या मामला है ?"

काका साहब—"वही ब्राह्मण। यह सारा काम उसी बंगाली ब्राह्मण का है।"

राजा जयसिंह ने पूछा—"तुम कौन हो ?"

काका साहब—"मैं विजयगढ़ का बूढ़ा काका साहब हूँ।"

जयसिंह—"तुमने क्या किया है ?"

काका साहब—"मैंने विजयगढ़ की मैत्री भङ्ग कर विश्वासघाती का काम किया है। मैंने निपट मूर्ख की तरह विश्वास करके बङ्गाली ब्राह्मण से सुरङ्ग के रास्ते की बात कही थी।"

विक्रमसिंह एकाएक जल कर बोल उठे—"खड्गसिंह."

काका साहब चौंक उठे—"वे प्रायः भूल गये थे कि उनका नाम खड्गसिंह है।"

विक्रमसिंह ने कहा—"खड्गसिंह, इतनी उम्र में आ कर फिर क्या तुम लड़के बन गये।"

काका साहब सिर नीचा करके चुप हो रहे।

विक्रमसिंह ने कहा—"काका साहब, तुम्हीं ने यह काम किया ? तुम्हारे हाथ से आज विजयगढ़ की अप्रतिष्ठा हुई।"

काका साहब चुप खड़े रहे। उनके हाथ थर थर काँपने लगे। उन्होंने काँपते हुए हाथों से माथा छू कर मन ही मन कहा—"अदृष्ट।"

विक्रमसिंह—"मेरे क़िले से बादशाह का विरोधी क्या निकल भागा मानो दिल्लीश्वर के निकट तुमने मुझको अपराधी बना दिया।"

काका साहब—"अपराधी तो एक मात्र मैं हूँ। महाराज अपराधी हैं,—इस बात का विश्वास बादशाह न करेंगे।"

विक्रमसिंह ने क्रुद्ध हो कर कहा—"तुम कौन हो ? तुम्हारी ख़बर बादशाह क्या रखते हैं ? तुम तो मेरे ही आदमी हो, यह तो ऐसा ही हुआ कि मानो मैंने अपने हाथ से क़ैदी का बन्धन खोल दिया।"

काका साहब ला जवाब हो रहे। वे अब अपनी आँखों के आँसू को नहीं सँभाल सके।

विक्रमसिंह ने कहा—"तुम्हें क्या सज़ा दूँ ?"

काका साहब—"महाराज की जो इच्छा हो।"

विक्रमसिंह—"तुम बूढ़े हुए। तुमको और अधिक दण्ड क्या दूँगा। विजयगढ़ से बाहर निकल जाना ही तुम्हारे लिए काफ़ी सज़ा होगी।"

काका साहब ने लिपट कर विक्रमसिंह के पाँव पकड़े और प्रार्थना की—"विजयगढ़ से निर्वासन? नहीं महाराज, मैं बूढ़ा आदमी, मेरी अक़्ल ठिकाने न रही। मुझे विजयगढ़ की मिट्टी ही में मिलने दीजिए। फाँसी की आज्ञा दे दीजिए। इस बुढ़ापे में गीदड़ और कुत्ते की भाँति विजयगढ़ से मुझे न निकालिए।"

राजा जयसिंह ने कहा—"महाराज, मेरे अनुरोध से आप इसका अपराध क्षमा करें। मैं बादशाह को यहाँ की सभी बातें सूचित कर दूँगा।"

काका साहब को माफ़ी मिली। दरबार से बाहर होने के समय काका साहब काँप कर गिर पड़े। उस दिन से काका साहब अधिक दिखाई नहीं देते। वे घर के बाहर नहीं होते हैं। माना उनकी पीठ की बीचवाली हड्डी टूट गई।

पच्चीसवाँ परिच्छेद

गुजुरपाड़ा ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे एक छोटा सा गाँव है। वहाँ के एक छोटे ज़मादार हैं। नाम है पीताम्बरराय। बस्ती में लोग अधिक नहीं हैं। पीताम्बर अपने पुराने देवी-गृह में बैठ कर अपने को राजा कहला रहे हैं। उनकी प्रजायें

भी उन्हें राजा कह कर पुकारती हैं। उनकी राज-महिमा इस आम और पीलू के जंगलों से घिरे हुए छोटे गाँव के भीतर ही विराजमान है। उनका यश इस गाँव के जंगलों में गूँजता हुआ इस गाँव के प्रान्त में ही विलीन हो जाता है। संसार के बड़े बड़े राजों महाराजों का प्रखर प्रताप इस छोटे से छायामय घोंसले में नहीं आ सकता। केवल नदी के किनारे तीर्थ स्नान के उद्देश से त्रिपुरा के राजा का एक बड़ा कोठा है। किन्तु बहुत दिनों से राजाओं का कोई मनुष्य स्नान करने नहीं आया। जो हो, त्रिपुरा के राजा की निस्बत ग्रामवासियों में एक अप्रकट रूपसे दन्तकथा मात्र प्रचलित है—"एक दिन भादों के महीने में गाँव में ख़बर पहुँची कि त्रिपुरा के एक राजकुमार नदी के किनारेवाले पुराने मकान में वास करने के लिए चले आ रहे हैं। कुछ दिन के बाद बड़ी बड़ी पगड़ी बाँधे लोगों ने आकर उस मकान में भारी धूम मचा दी। उसके प्रायः एक हफ़्ते के बाद हाथी, घोड़े, लोग, लशकरों को लिए नक्षत्रराय गुज़ुरपाड़ा गाँव में आ पहुँचे। उनका ठाट बाट देख कर गाँववालों के मुँह से कोई शब्द न निकला। इतने दिनों तक वे सब पीताम्बर को ही भारी राजा करके मानते थे किन्तु आज वह बात किसी के मन में स्थिर नहीं रही।" नक्षत्रराय को देख कर सभी एक-स्वर से बोले—"हाँ, राजकुमार ऐसे ही होते हैं।"

यद्यपि नक्षत्रराय को देख कर उसके तेज के सामने पीताम्बर और उसका सुशोभित पक्का दालान एवं देवीगृह तक सब फीके पड़ गये तथापि उनके आनन्द की सीमा न रही। नक्षत्रराय को उन्होंने इतना बड़ा राजा करके समझा कि अपनी छोटी सी राजमर्यादा को नक्षत्रराय के चरणों में अर्पित करके वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। नक्षत्रराय जब कभी हाथी पर चढ़ कर निकलते हैं तब पीताम्बर अपनी प्रजा को पुकार कर कहते हैं—"तुम लोगों ने राजा देखा है? यह देखो राजा।" पीताम्बर प्रति दिन कितनी ही खाने की चीज़ें उपहार लेकर नक्षत्रराय को देख आते हैं। नक्षत्रराय का नया ख़ूबसूरत चेहरा देख कर पीताम्बर के हृदय में प्रेम उमड़ आता है। नक्षत्रराय ही गाँव के राजा बन गये। पीताम्बर प्रजा की श्रेणी में जा मिले।

दिन में तीन बार नौबत बजने लगी। गाँव के रास्ते में हाथी घोड़े चलने लगे। ड्योढ़ी पर पहरेदारों के हाथ में बिजली की तरह नंगी तलवार चमकने लगी। हाट बाज़ार बस गया। पीताम्बर और उनके प्रजाजन मारे ख़ुशी के प्रफुल्लित हो उठे। नक्षत्रराय इस देश-निकाले की सज़ा में राजा होकर सारा दुख भूल गये। यहाँ उनके ऊपर राजत्व का भार कुछ भी नहीं है किन्तु राजकीय सुख सभी कुछ है। यहाँ वे सर्वथा स्वतन्त्र हैं। अपने देश में उनका इतना बड़ा रोब नहीं था। सिवा इसके, इस जगह रघुपति की छाया

तक नहीं। नक्षत्रराय उल्लसित-मन से भोग विलास में निमग्न हुए। ढाका शहर से नर्तकी और नर्तक गण आये। नक्षत्रराय को नाच, गान और वाद्यों में तिल मात्र भी अरुचि न थी।

नक्षत्रराय ने त्रिपुरा राज का सारा अनुकरण किया। नौकरों में किसी को मन्त्री बनाया, किसी को सेनापति मुक़र्रर किया। पीताम्बर दीवानजी के नाम से पुकारे जाने लगे। क़ायदे के साथ राजदरबार होने लगा। नक्षत्रराय बड़े ठाट से इनसाफ़ करने बैठते हैं। नकुल ने आकर नालिश दायर की—"मथुरा ने मुझको कुत्ता कहा है।" उसका विधि-पूर्वक विचार हुआ। कुछ सबूत इकट्ठे होने के बाद मथुरा ही अपराधी सिद्ध हुआ। नक्षत्रराय ने बड़े गम्भीर भाव से हुक्म दिया—"नकुल मथुरा के दोनों कान मल दे।" इस प्रकार नक्षत्रराय सुख से समय बिताने लगे। किसी किसी दिन जब कोई काम हाथ में न आता था तब अस्वाभाविक कोई एक नया दिल-बहलाव तमाशा आविष्कार करने के हेतु मन्त्री की पुकार होती थी। मन्त्री राजसभासद् गणों को एकत्र कर बड़ी व्यग्रता के साथ नया तमाशा ईजाद करने के लिए उद्यत होते थे। अगाध चिन्ता और विचार का अन्त नहीं रहता था। एक दिन कुछ सैनिक सिपाहियों को लेकर पीताम्बर के देवीगृह पर आक्रमण किया गया। और उनके पोखर से मछली, उनके बाग़ से कच्चे नारियल के फल और

बालक का साग लूट की सामग्री स्वरूप बड़ी धूम धाम के साथ बाजे बजवाते हुए ड्योढ़ी पर लाया गया। इस प्रकार के खेलों में नक्षत्रराय के ऊपर पीताम्बर का स्नेह और भी बढ़ गया। आज राज-भवन में बिल्ली का विवाह है। नक्षत्रराय के पास एक छोटी सी बिल्ली थी। उसके साथ मण्डलदेव के बिलाव का विवाह होगा। चूड़ामणि घटक घटना का पुरस्कार स्वरूप तीन सौ रुपये और एक साल चादर पा चुके हैं। हलदी तेल आदि चढ़ाने की सभी रीति-व्यवहार हो गये हैं। आज सन्ध्या समय शुभ मुहूर्त में ब्याह होगा। इस महोत्सव के कारण कई एक दिनों से राजभवन में किसी को दम मारने की फ़ुरसत नहीं। शाम के वक्त सड़कों पर रोशनी की गई। नौबत ख़ाने में बाजे बजने लगे। मण्डलदेव के घर से तामदान पर चढ़ कर कमख़्वाब की पोशाक पहने दुलहा अत्यन्त अधीर स्वर में म्याऊँ म्याऊँ करने चला। मण्डलदेव के घर का एक छोटा लड़का उपवर की तरह उसके गले की डोरी हाथ से पकड़े उसके साथ साथ आ रहा है। स्वस्तिवाचन और शंखध्वनि सहित वर मण्डप में लाये गये। पुरोहित का नाम था केनाराम, परन्तु नक्षत्रराय ने उसका नाम रक्खा था रघुपति नक्षत्रराय असली रघुपति से डरते थे इसीसे नक़ली रघुपति के साथ हँसी ठट्ठा करके ख़ुश होते थे। इतनी ही नहीं बल्कि बात बात में उसकी दुर्दशा करते थे।

वह बेचारा ग़रीब केनाराम चुपके चुपके सब सह लेता था। आज दैव-दुर्विपाक से केनाराम दरबार में हाज़िर नहीं था। उसका लड़का मारे ज्वरताप के मरा जा रहा है। नक्षत्रराय ने घबराहट के स्वर में पूछा—"रघुपति कहाँ है?" नौकर ने कहा—"उनके घर में कोई बीमार है।" नक्षत्रराय ने दूनी आवाज़ में कहा—"बुलाओ उसको।" लोग दौड़े। उस वक्त ख़ूब ज़ोर से रोती हुई बिल्ली के सामने नाच गान होने लगा। नक्षत्रराय ने कहा—"सहाना गाओ।" सहाना गान आरम्भ हुआ। कुछ देर के बाद नौकर ने आ कर निवेदन किया—"रघुपति आये हैं।" नक्षत्रराय ने क्रोध में भर कर कहा—"बुलाओ।" पुरोहितजी ने तुरंत घर में प्रवेश किया। पुरोहित को देखते ही नक्षत्रराय की चढ़ी हुई भौंहें उतर गईं, उनका बिलकुल भाव बदल गया। उनका मुँह मलिन हो गया। पेशानी पर पसीने दीख पड़े। सहाना गान और सारङ्गी तबला आदि सभी बाजे एकाएक बन्द हो गये। उस सूने घर में केवल बिल्ली का म्याऊँ म्याऊँ शब्द भर गया।

हाँ, हैं तो यह रघुपति ही, इसमें कोई सन्देह नहीं। लम्बे, दुबले और तेजस्वी रघुपति की, बहुत दिनों के भूके कुत्ते की तरह दोनों आँखें बल रही हैं। वे धूलों से भरे हुए दोनों पैर कमख़ाब की मसनद पर रख कर और सिर उठा कर खड़े हुए। बोले—"नक्षत्रराय!" नक्षत्रराय कुछ नहीं बोले। रघुपति

नें कहा—"तुम ने रघुपति को बुलाया है। मैं आया हूँ।
नक्षत्रराय ने दबी आवाज़ में कहा—"हाँ।" रघुपति ने कहा—
"उठो, इधर आओ," नक्षत्रराय धीरे धीरे महफ़िल से
उठ गये। बिल्ली का ब्याह, सहाना, तथा सारङ्गी सब एक
बारगी बन्द हो गये।

छब्बीसवाँ परिच्छेद

रघुपति ने पूछा—"यह सब क्या होता था?"

नक्षत्रराय ने सिर खुजा कर कहा—"नाच होता था।"

रघुपति घृणा के साथ नाक सिकोड़ कर बोले, "छीः छीः?"

नक्षत्रराय अपराधी की तरह खड़े रहे।

रघुपति ने कहा—"कल यहाँ से चलना होगा। उसका
उद्योग करो।"

नक्षत्रराय ने कहा—"कहाँ जाना होगा?"

रघुपति—"यह फिर बताऊँगा, अभी यहाँ से मेरे साथ
चले चलो।"

नक्षत्रराय—"मैं यहाँ अच्छी तरह हूँ।"

रघुपति—"अच्छी तरह हूँ! तुम राजवंश में उत्पन्न हुए
हो। तुम्हारे पुरुषा लोग सभी राज्योपभोग करते आये हैं।

आज तुम इस जंगली गाँव में शृगालों के राजा हो कर बैठे हो। तिस पर भी कह रहे हो—"अच्छी तरह हूँ।"

रघुपति ने कड़वे वचन और तीक्ष्ण-कटाक्ष-पात से साबित कर दिया कि नक्षत्रराय अच्छी दशा में नहीं हैं। नक्षत्रराय ने भी रघुपति के मुँह के तेज से अभिभूत हो कर बहुत कुछ वैसा ही समझा। उन्होंने कहा—"अच्छी तरह क्या, किसी तरह से हूँ। फिर और क्या करूँ! उपाय ही क्या है?"

रघुपति—"उपाय बहुत हैं। उपायों की कमी नहीं। मैं तुम्हें उपाय बतला दूँगा। तुम मेरे साथ चलो।"

नक्षत्रराय—"दीवान जी से एक बार पूछ लूँ?"

रघुपति—"नहीं।"

नक्षत्रराय—"और मेरा यह सब माल असबाब?"

रघुपति—"इनकी कोई ज़रूरत नहीं।"

नक्षत्रराय—"नौकर?"

रघुपति—"कुछ ज़रूरत नहीं।"

नक्षत्रराय—"मेरे हाथ में अभी पूरे रुपये नहीं हैं।"

रघुपति—"मेरे पास हैं। अब बहुत सोच विचार न करो। अभी सोने जाओ, कल सुबह ही यात्रा करनी होगी।" यह कह कर जवाब की कुछ अपेक्षा न करके रघुपति चले गये।

सुबह नक्षत्रराय जाग उठे। तब बन्दीगण (भाट) सुन्दर रागिनी में मधुर गीत अलाप रहे थे। नक्षत्रराय ने बाहर के कमरे में आकर खिड़की से झाँक कर देखा। पूरब की ओर सूर्योदय हो रहा है। लाल लाल लकीरें दिखाई दे रही हैं।

उभयतटवर्ती सघन वृक्षों के बीच हो कर, छोटे छोटे निःशब्द गाँवों के घरों के क़रीब ही से ब्रह्मपुत्र नदी अपनी विपुल जलधारा को लेकर निरन्तर बह रही है। कोठ के झरोखे से नदी के किनारे का एक छोटा घर नज़र आता है। एक औरत आँगन में झाड़ू दे रही है। एक मर्द उसके साथ दो एक बातें करके माथे में चादर लपेट एक बाँस की लम्बी लाठी के आगे की तरफ़ पोटली बाँध कर स्वस्थ चित्त से कहीं बाहर चल पड़ा है। श्यामा और दहियल पक्षी सीटी भर रहे हैं। हरदा एक बड़े झंखाड़ पेड़ के घने पत्तों में बैठ कर गान कर रहा है। झरोखे के पास खड़े होकर और बाहर की तरफ़ देख कर नक्षत्रराय ने एक लम्बी साँस ली। इसी समय रघुपति ने पीछे से आकर नक्षत्रराय का स्पर्श किया। नक्षत्रराय चौंक उठे। रघुपति ने कोमलता सहित मध्यम स्वर में कहा—"यात्रा का सब सामान ठीक है।"

नक्षत्रराय हाथ जोड़ कर बड़ी अधीरता से बोले—"महाशय, मुझे क्षमा कीजिए। मैं यहाँ से कहीं जाना नहीं चाहता। मैं इस जगह आराम से हूँ।"

रघुपति ने कुछ न कह कर नक्षत्रराय के मुँह की तरफ़ अपनी अङ्गारवत् दृष्टि स्थापित की।"

नक्षत्रराय ने आँखें नीची करके कहा—"कहाँ जाना होगा?"

रघुपति—"सो अभी नहीं कह सकता हूँ।"

नक्षत्र—"भाई के विरुद्ध मैं कोई काम नहीं कर सकूँगा।"

रघुपति मारे क्रोध के जल उठे और बोले—"भाई ने तुम्हारा कौन सा बड़ा उपकार किया है। कहो तो ज़रा मैं भी सुनूँ।"

नक्षत्रराय ने मुँह फेर कर और झरोखे पर लकीर खींच कर कहा—"मैं जानता हूँ, वे मुझ पर प्रेम रखते हैं।"

रघुपति ने एक उत्कट सूखी हँसी हँस कर कहा—"हरे! हरे! क्या प्रेम। मैं सब समझता हूँ। ध्रुव को निर्विघ्नपूर्वक उत्तराधिकारी बनाने के लिए भाई ने झूठा इलज़ाम लगा कर तुम्हें राज्य से निकाल दिया है। अहा, राज्य के गुरुतर भार से मक्खन के पुतले सदृश कोमल प्यारा भाई कहीं दुखी न हो जाय! अब उस राज्य में क्या सहज ही प्रवेश कर सकोगे? मूर्ख!"

नक्षत्रराय ने तुरन्त कहा—"क्या मैं इतनी साधारण बात भी नहीं समझता? मैं सब समझता हूँ। लेकिन समझ ही कर क्या करूँगा। उपाय ही क्या है?"

रघुपति—उसी उपाय की बात हो रही है। उसीके लिए मैं आया हूँ। इच्छा हो तो मेरे साथ चले चलो, नहीं तो इस बाँस के जङ्गल में बैठ कर अपने शुभचिन्तक बाप दादों के नाम जपा करो। मैं जाता हूँ।"

इतना कह कर रघुपति जाने लगे। नक्षत्रराय ने तुरन्त उनके पीछे पीछे चल कर कहा—"मैं भी जाऊँगा। अगर दीवान जी जाना चाहें तो उनको अपने साथ ले जाने में क्या हर्ज है?"

"सिवा मेरे और कोई तुम्हारे साथ न जायगा।"

घर छोड़ कर नक्षत्रराय का पाँव बाहर होना नहीं चाहता। विनोद की इन सब सामग्रियों को छोड़ कर और दीवानजी को त्याग कर न मालूम रघुपति के साथ अकेले कहाँ जाना पड़ेगा। किन्तु रघुपति मानों उनकी चोटी पकड़ कर खींचे लिये जा रहे हैं। उसके सिवा नक्षत्रराय के मन में भय के साथ ही साथ एक प्रकार का कुतूहल भी उत्पन्न होने लगा। कुतूहल का भी एक अजब खिंचाव है।

नाव प्रस्तुत है। नदी के किनारे जाकर नक्षत्रराय ने देखा—"कन्धे पर अँगोछा डाले पीताम्बर स्नान करने आये हैं। पीताम्बर नक्षत्रराय को ही देख कर और मुसकरा कर बोले—"जय हो महाराज! सुना है कि कल कहाँ से एक

दुष्ट मनहूस ब्राह्मण ने आकर हँसी ख़ुशी के ब्याह में बाधा डाल दी।"

नक्षत्रराय सहम गये। रघुपति ने स्थिर भाव से कहा—"वह दुष्ट ब्राह्मण मैं ही हूँ।"

पीताम्बर हँस उठे और बोले—"आपके मुँह पर आपकी तारीफ़ करना भी तो ठीक नहीं है। जान कर कौन बाप का बेटा ऐसा काम करता अर्थात् मुँह पर किसी की कोई निन्दा नहीं करता। आप मन में कुछ सोच न करेंगे। परोक्ष में लोग क्या नहीं कहते हैं। जो सामने मुझे राजा कहता है सो परोक्ष में पितम्बरा कह कर पुकारता है। परोक्ष में कोई कुछ बोले, मुँह पर कुछ न बोलने के समान ही हुआ, मैं तो यही समझता हूँ। सच पूँछिए तो न मालूम आपका मुँह ऐसा अधिक अप्रसन्न क्यों दिखाई देता है। किसी के मुँह का ऐसा भाव देखने ही से लोगों में उसकी शिकायत होने लगती है।

"महाराज, इतने सवेरे नदी किनारे आने का क्या कारण?"

नक्षत्रराय ने कुछ करुण स्वर में कहा—"दीवान जी, कारण यही कि मैं अब जा रहा हूँ।"

पीताम्बर—"जा रहे हैं? कहाँ? नृपाड़ा, मण्डलदेव के मकान पर?"

नक्षत्रराय—"नहीं दीवान जी, मण्डलदेव के मकान पर नहीं, बहुत दूर।"

पीताम्बर—"बहुत दूर ? तो क्या पाइकघाट आखेट करने जाते हैं ?"

नक्षत्रराय ने एक बार रघुपति के मुँह की तरफ़ देख कर केवल खिन्नभाव से निषेधबोधक सिर हिलाया।

रघुपति ने कहा—"समय बीता जा रहा है। नाव पर चढ़िए।"

पीताम्बर ने बड़े ही सन्देह और क्रोध के साथ ब्राह्मण के मुँह की तरफ़ देखा और कहा—"बाबा जी, तुम कौन हो ? हमारे महाराज के ऊपर हुकूमत करने आये हो ?"

नक्षत्रराय ने व्यग्र होकर पीताम्बर को अपने पास खींच कर कहा—"ये हमारे गुरु हैं।"

पीताम्बर बोल उठे— 'भले ही गुरु हों वे हमारे देवीघर में जाकर रहें। मैं चावल, दूध केले आदि का प्रबन्ध कर दूँगा। सम्मानपूर्वक रहेंगे।

महाराज को वहाँ कैसा काम है ?"

रघुपति—समय व्यर्थ नष्ट हो रहा है, तो मैं अब जाता हूँ।

पीताम्बर—"आपकी ख़ुशी, देर करने का प्रयोजन क्या, महाशय, आप झटपट पधारिए। महाराज को लेकर मैं ड्योढ़ी जाता हूँ।"

नक्षत्रराय ने एक बार रघुपति के मुँह की ओर देख कर कोमल स्वर में कहा—"नहीं दीवान जी, मैं जाता हूँ।"

पीताम्बर "तो मैं भी चलता हूँ, नौकरों को साथ ले लीजिए। राजा की तरह चलिए। राजा जायँगे तो क्या साथ में दीवान जी नहीं जायँगे ?"

नक्षत्रराय ने केवल रघुपति के मुँह की तरफ़ देखा।

रघुपति ने कहा—"कोई साथ में नहीं जायगा।"

पीताम्बर उदास होकर नक्षत्रराय का हाथ पकड़ कर बोले—"देखो बाबू, मैं तुम्हें राजा कह कर पुकारता हूँ, किन्तु तुम्हें सन्तानवत् प्यार करता हूँ। मेरे कोई सन्तान नहीं। तुम्हारे ऊपर मेरा कोई ज़ोर नहीं चल सकता। तुम जा रहे हो। मैं ज़बर्दस्ती तुम्हें ठहरा भी नहीं सकता। किन्तु मेरा एक यही अनुरोध है कि आप कहीं जाइए, पर मेरे मरने से पहले ही यहाँ लौट आइएगा। मैं अपने हाथ से अपनी सारी सम्पत्ति आपके हाथ सौंप दूँगा। बस मेरा यही एक मनोरथ है।"

नक्षत्रराय और रघुपति नाव पर चढ़े। नाव दक्खिन की तरफ़ रवाना हुई। पीताम्बर स्नान करना भूल गये, अँगोछा कन्धे पर रक्खे ही चिन्तित चित्त से घर लौट गये। गुज़रपाड़ा मानो शून्य हो गया। उसका आनन्द-उत्सव सब

समाप्त हो गया। केवल प्रकृति का नित्योत्सव प्रति दिन के लिए जारी रहा। सुबह चिड़ियों की चह चहाहट, पत्तों की खड़ खड़ाहट और नदी में तरङ्गरूपी करतलध्वनि का विश्राम नहीं।



सत्ताईसवाँ परिच्छेद

सफ़र दूर का है। कहीं नदी है, कहीं घना जंगल है,—कहीं सुनसान जंगल है। कभी नाव पर, कभी पैदल ही, कभी टट्टू पर, कभी धूप में, कभी वर्षा के पानी में, कभी शोर-गुल होते हुए दिन में और कभी रात के भयङ्कर अँधियारे में नक्षत्रराय बराबर चले जा रहे हैं। कितने ही देश, कितने ही विचित्र दृश्य और कितने ही विचित्र लोग दिखाई दे रहे हैं किन्तु नक्षत्रराय के पार्श्व में छाया की तरह म्लान, और धूप की तरह प्रकाशमान वही एकमात्र रघुपति बराबर लगे हैं। दिन में रघुपति, रात में रघुपति और स्वप्न में भी, सर्वत्र रघुपति विराज रहे हैं। सड़क पर यात्रियों का ताँता लग रहा है। सड़क के किनारे धूल में लड़के खेल रहे हैं। पैंठ में सैकड़ों आदमी ख़रीद-फ़रोख़्त कर रहे हैं। गाँव में बूढ़े लोग चौपड़ खेल रहे हैं। घाट पर स्त्रियाँ पानी भर रही हैं। नाव

पर मल्लाह (माँझी) लोग गीत गाते हुए चले जा रहे हैं। परन्तु नक्षत्रराय के पास वही एक दुबले पतले रघुपति हमेशा जाग रहे हैं। संसार में चारों तरफ़ विचित्र कौतुक हो रहे हैं। विचित्र घटनायें संघटित हो रही हैं। किन्तु इस अद्भुत रहस्यमय नाट्यशाला के बीच से नक्षत्रराय की अभाग्यता उन्हें घसीटे लिये जा रही है। जनसमाज़ उनके लिए निर्जन हो रहा है। लोगों के निवासस्थान उनके लिए मरुभूमि हो रहे हैं। नक्षत्रराय थक कर अपनी पार्श्ववर्तिनी छाया से पूछते हैं—"अब और कितनी दूर जाना होगा?" छाया उत्तर देती है—"बहुत दूर।" "कहाँ जाना होगा?" इसका जवाब नहीं। नक्षत्रराय साँस लेकर चल पड़ते हैं। पेड़ों की पंक्ति में पत्तों से छाये हुए साफ़ सुथरे सूने घरों को देख कर उनके मन में आता है कि अगर मैं इन घरों का अधिवासी होता। गोधूली के समय जब चरवाहे सब कन्धे पर लाठी रख कर मैदान और गाँव के रास्ते से धूल उड़ाते हुए गाय-बछड़ों को लिये हुए चले आते हैं तब नक्षत्रराय के मन में होता है कि अगर मैं इन लोगों के साथ जाने पाता, साँझ के समय घर में जा कर विश्राम करने पाता तो क्याही अच्छा होता। दो पहर दिन की कड़ी धूप में किसान हल चला रहा है। उसे देख कर नक्षत्रराय सोचते हैं—"अहा! यह कैसा सुखी है।" रास्ते की तकलीफ़ से नक्षत्रराय कान्तिहीन, दुबले और काले

हो गये हैं ? रघुपति से कहते हैं—"बाबा, मैं अब न बचूँगा।" रघुपति बोलते हैं—"अभी तुमको मरने कौन देगा ?" नक्षत्रराय के मन में निश्चय हुआ कि रघुपति से बिना छुट्टी पाये उनको मरने का भी सुबिधा नहीं। एक औरत नक्षत्रराय को देख कर बोली—"अहा, यह किसका लड़का है! अहा, उसको घर से किसने बाहर किया है" यह सुन कर नक्षत्रराय का हृदय पिघल गया। उनके नयनों में नीर भर आया। उनकी इच्छा हुई कि उस औरत को माँ कह कर उसके साथ उसके घर चले जायँ।

नक्षत्रराय रघुपति के हाथ से जितना ही कष्ट पाने लगे उतना ही वे रघुपति के अधीन होने लगे। रघुपति की अङ्गुली के इशारे पर उनकी स्थिति परिचालित होने लगी।

चलते चलते क्रमशः नदी का बाहुल्य घटने लगा। क्रमशः कठिन भूमि आगे आई। मिट्टी लाल है, और कँकड़ीली है। दूर दूर लोगों के घर दिखाई देते हैं। दरख़्त बहुत कम हैं। नारियल के जंगलवाले देश को छोड़ कर ये दोनों पथिक ताड़वनवाले देश में आ पड़े हैं। बीच बीच में बड़े बड़े बाँध हैं। सूखी नदी का प्रवाहपथ है। दूरवर्त्ती पहाड़ मेघ के सदृश दिखाई दे रहा है। क्रमशः शाह शुजा की राजधानी राजमहल समीपस्थ होने लगा।

अट्ठाईसवाँ परिच्छेद

शुजा जैसे तैसे राजधानी (राजमहल) में पहुँच गये। हार होने और क़ैदख़ाने से भाग निकलने के बाद शुजा नई फ़ौजें एकत्र करने का उद्योग करने लगे। किन्तु ख़ज़ाने में रुपये ज़्यादा मौजूद नहीं हैं। प्रजा मालगुजारी के मारे तबाह है। इसी अरसे में औरङ्गज़ेब दारा को हरा कर दिल्ली के बादशाही तख़्त पर बैठे हैं। शुजा यह ख़बर पाकर बिलकुल घबरा गये। किन्तु लड़ाई का सब सामान ठीक नहीं था, इसी से कुछ समय मिल जाने की इच्छा से शुजा ने कपट करके औरङ्गज़ेब के पास एक दूत भेज दिया। उससे कहला भेजा कि आँखों के तारे हृदय के आनन्दस्वरूप परमस्नेही परम प्रिय भाई औरङ्गज़ेब सिंहासन प्राप्त कर सफल-मनोरथ हुए हैं, इससे शुजा के मृतशरीर में माना प्राण पलट आये। इस समय नये बादशाह अगर शुजा के लिए बंगाले का शासनभार स्वीकृत करें तो उसे ख़ुशी की और कोई बात बाक़ी न रह जायगी। औरङ्गज़ेब ने बड़ी इ़ज़्ज़त के साथ दूत को बुला कर शुजा का कुशल पूछा और उनके बालबच्चों का शुभ समाचार जानने के लिए बड़ी उत्कण्ठा प्रकट की। औरङ्गज़ेब ने कहा—"जब ख़ुद बादशाह शाहजहाँ ने शुजा को बंगाल का शासन-भार दिया है तब उसके लिए फिर नई परवानगी देने की कोई ज़रूरत नहीं।"

इसी अवसर में रघुपति शुजा के दरबार में जा कर हाज़िर हुए।

शुजा ने बड़ी कृतज्ञता और सम्मान के साथ अपने उद्धार-कर्ता रघुपति को बुलाया और पूछा—"क्या हाल है ?"

रघुपति ने कहा—"हुज़ूर की ख़िदमत में कुछ इत्तिला करनी है।"

शुजा ने मन ही मन सोचा—"अब फिर कैसी इत्तिला ? कुछ द्रव्य न माँगे तभी ख़ैरियत है।"

रघुपति ने कहा—"मेरी प्रार्थना यही है कि" ?

शुजा ने कहा—"ब्राह्मण, मैं तुम्हारी ख़्वाहिश ज़रूर पूरी करूँगा। लेकिन कुछ दिन सब्र करो। अभी ख़ज़ाने में ज़्यादा रुपया नहीं है।"

रघुपति ने कहा—"जनाब आली, मैं सोना, चाँदी अथवा और कोई द्रव्य नहीं चाहता। मैं अभी केवल सान दिया हुआ लोहा चाहता हूँ। मेरी नालिश सुनिए मैं सिर्फ़ विचार के लिए प्रार्थना करता हूँ।"

शुजा—"बड़ी मुशकिल हुई। अभी मेरे विचार करने का समय नहीं है। तुम बड़े बे-मौक़े आये।"

रघुपति ने कहा—"शाहज़ादा साहब, वक़्त बे वक़्त सभी के लिए है। आप बादशाह हैं तो आपके लिए भी है और मैं

दरिद्र ब्राह्मण हूँ तो मेरे लिए भी है। आप अपने वक़्त के मुताबिक़ अपने ही विचार में उलझे रहेंगे तो फिर मेरा वक़्त कहाँ जायगा? मेरा विचार कौन करेगा?"

शुजा ने मजबूर होकर कहा—"बड़ी कबाहत है। इतनी बातें सुनने की अपेक्षा तुम्हारी नालिश सुन लेना अच्छा है। कहो, क्या कहना है?"

रघुपति ने कहा—"त्रिपुरा के राजा गोविन्दमाणिक्य ने अपने छोटे भाई को बेक़सूर अपने राज्य से बाहर कर दिया है।"

शुजा रुष्ट होकर बोले—"बाम्हन, तुम दूसरे की नालिश लेकर मेरे वक़्त को क्यों बरबाद करते हो। अभी इन सब बातों के विचार करने का वक़्त नहीं है।"

रघुपति—"अभियोगी (मुद्दई) राजधानी में हाज़िर है।"

शुजा—"वह ख़ुद हाज़िर होकर अपने मुँह से जब नालिश दायर करेगा तब विचार किया जायगा।"

रघुपति—"उन्हें यहाँ किस वक़्त हाज़िर करूँ?"

शुजा—"बाम्हन किसी तरह पिण्ड नहीं छोड़ता। अच्छा, एक हफ़्ते के बाद उसे ले आना।"

रघुपति ने कहा—"हुज़ूर का हुक्म हो तो मैं कल उन्हें यहाँ हाज़िर करूँ।"

शुजा ने झुँझला कर कहा—"अच्छा, कल ही यहाँ उसे ले आना।" आज दिन भर के लिए शुजा ने उद्धार पाया। रघुपति वहाँ से चले गये।

नक्षत्रराय ने कहा—"नवाब के पास जायँगे तो, लेकिन नज़राने के लिए क्या ले जायँगे?"

रघुपति—"उसके लिए तुमको तरद्दुद करना न होगा।" उन्होंने नज़राने के लिए डेढ़ लाख रुपये लाकर उनके आगे धर दिये।

दूसरे दिन सबेरे ही रघुपति डरते हुए नक्षत्रराय को साथ लेकर शुजा के दरबार में हाज़िर हुए। जब डेढ़ लाख रुपये नवाब के पैरों के पास रक्खे गये तब उनका चेहरा वैसा उदास नहीं देख पड़ा। नक्षत्रराय की नालिश बड़ी आसानी के साथ उनकी समझ में आ गई। उन्होंने कहा—"इस वक़्त तुम क्या चाहते हो सो कहो।"

रघुपति ने कहा—"गोविन्दमाणिक्य को राज्यच्युत करके उनकी जगह नक्षत्रराय को राजा बनने की परवानगी दी जाय।"

यद्यपि शुजा अपने भाई का सिंहासन हड़पने के लिए ज़रा भी कुण्ठित नहीं हैं तथापि ऐसे मौक़े पर उनके हृदय में कुछ रुकावट सी आ खड़ी हुई। किन्तु रघुपति की प्रार्थना पूरी कर देना ही उन्हें फ़िलहाल सब बातों की अपेक्षा सुगम जान पड़ा। ऐसा न करने से रघुपति फिर बहुत दलीलें

करेगा यही उनको डर था। दूसरा यह कि डेढ़ लाख रुपया नज़राना पाने पर भी तरदीद करना ठीक नहीं। उन्होंने कहा—"अच्छा गोविन्दमाणिक्य को राज्य से अलग होने और नक्षत्रराय को राज्य मिलने का परवाना तुम्हें दिया जायगा। तुम उसे अपने साथ ले जाओ।"

रघुपति ने कहा—"कुछ शाही फौज़ को भी साथ जाने की इजाज़त दी जाय।"

शुजा ने दृढ़ता के साथ कहा—"नहीं नही, यह बात नहीं होगी। मैं लड़ाई में अभी अपने को नहीं उलझा सकता।"

रघुपति ने कहा—"लड़ाई के ख़र्चे के लिए छत्तीस हज़ार रुपये मैं और रक्खे जाता हूँ। और नक्षत्रराय त्रिपुरा के राजा होने के साथ एक साल का ख़ज़ाना सेनापति के हाथ भेज देंगे।"

यह प्रस्ताव शुजा को अत्यन्त उपयुक्त जान पड़ा। मन्त्री भी इस विषय में सहमत हुए। एक दल मुग़लसेना साथ लेकर रघुपति और नक्षत्रराय त्रिपुरा की तरफ़ रवाना हुए।

उनतीसवाँ परिच्छेद

इस समय ध्रुव की उम्र चार वर्ष की है। अब वह बहुत बातें करना सीख गया है। वह अब अपने को बड़ा

करके मानता है। यद्यपि सब बातें स्पष्ट नहीं बोल सकता तथापि जो कुछ बोलता है ख़ूब ज़ोर से बोलता है। "खिलौना दूँगा" कह कर वह अकसर राजा को विशेष प्रलोभन और आश्वासन देने लगा है। राजा अगर कभी अप्रियता का लक्षण प्रकट करते हैं तो ध्रुव उनको "घर में बन्द कर दूँगा।" कह कर ख़ूब धमकाता है। राजा अभी इसकी सख़्त हुकूमत के पाबन्द हैं। ध्रुव के नापसन्द का कोई काम करना वे ज़्यादा पसन्द नहीं करते।

इसी बीच में एकाएक ध्रुव को एक पड़ोसी की लड़की का साथ हो गया, जो उम्र में ध्रुव से छः मास छोटी है। दसही मिनट में उन दोनों के बीच घनिष्ठ भाव हो गया। बीच में एक छोटा सा मनमुटाव होने की भी बात उपस्थित हुई थी। ध्रुव के हाथ में एक बड़ा बताशा था। प्रथम प्रेम के उफान में ध्रुव ने अपनी दो छोटी उँगलियों से बड़ी सावधानी के साथ एक छोटा सा कना तोड़ कर एकदम उस लड़की के मुँह में रख दिया। और बड़ी ख़ातिर से गर्दन हिला कर कहा—"तुम खाओ।" उसने उसे खाया और बड़ी प्रसन्न हो कर कहा—"और भी खाऊँगी।" अब तो ध्रुव कुछ अधीर हो पड़ा; मित्रत्व भाव पर इतना बड़ा दबाव उसे न्याय-संगत नहीं जान पड़ा। ध्रुव ने अपनी स्वाभाविक गम्भीरता और चतुरता के साथ सिर हिला कर और आँखें दिखला

कर कहा—"अब औोल नहीं खाओ, बहुत खाने से औगुन कलेगा। बाबा मालेगा।" यह कह कर ध्रुव ने झट पट सारे बताशे को अपने मुँह में एक ही बार रख कर खा लिया। हठात् उस लड़की के मुँह का भाव बदलने लगा और रोने का सभी लक्षण प्रकट हो पड़ा। ध्रुव किसी का रोना बरदाश्त नहीं कर सकता था। वह तुरन्त धीरता के साथ आश्वासन दे कर बोला—"कल दूँगा।"

ध्रुव राजा के आते ही बड़ी सावधानी से अपनी नई सङ्गिना की ओर लक्ष्य करके बोल उठा—"इसे कुछ मत कहो, यह लोवेगी। छोः, इसको मत मालो।" यद्यपि राजा को उस लड़की पर किसी तरह की अप्रसन्नता नहीं थी, तथापि देह पर गिर कर राजा को सावधान कर देना ध्रुव ने बहुत ज़रूरी समझा।

चतुर लोग जिस प्रकार शान्तभाव धारण करके ध्रुव को उपदेश देते थे और बुरे कामों से दूर रहने के हेतु धिक्कारते थे। ध्रुव भी लोगों की भलाई के लिए उन उपदेशों और धिक्कार-वाक्यों को उसी तरह प्रयुक्त करना अपना कर्तव्य समझता था। राजा ने उस लड़की को नहीं मारा, ध्रुव ने प्रत्यक्ष देखा कि उसका उपदेश निष्फल नहीं हुआ।

इसके बाद ध्रुव ने वारिस का भाव धारण किया। "डरने की कोई बात नहीं है" यह भली भाँति समझा कर वह बड़ी

गम्भीरता के साथ उस लड़की को धीरज देने की चेष्टा करने लगा। इसकी भी कोई ज़रूरत न थी। कारण यह कि वह लड़की स्वयं निर्भयतापूर्वक राजा के पास जा कर कुतूहलवश बड़े हौसले के साथ उनके हाथ का कङ्कण घुमा घुमा कर देखने लगी थी।

ध्रुव ने केवल एक अपने ही प्रयत्न और प्रयास से लोगों में इस प्रकार शान्ति और प्रेम स्थापन करके राजा के मुँह के पास, प्रसन्न-मन से, अपना बेला फूल के सदृश पुष्ट प्रफुल्ल कोमल मुँह रक्खा। राजा ने जो उसके साथ अच्छा बर्ताव किया है, मानो उसने उसीका पुरस्कार आगे धर दिया है। राजा ने उसका मुँह चूमा। तब ध्रुव ने अपनी सङ्गिनी का मुँह दिखा कर राजा को कुछ अनुमति और अनुरोध के स्वर में कहा—"इसका मुँह चूमो।" राजा ध्रुव की बात काटने का साहस नहीं कर सके। तब वह लड़की चिर-परिचिता की तरह निःसङ्कोच भाव से राजा की गोद में जा बैठी। इतनी देर तक ध्रुव के मन में किसी प्रकार की अस्थिरता, उद्दण्डता का भाव नहीं था। इस मरतबा ध्रुव के सिंहासन पर दबाव पड़ते ही उसका विराट् प्रेम चञ्चल हो उठा। राजा की गोद में अपना एक मात्र आधिपत्य स्थापित करने की इच्छा उसकी बलवती हो उठी। उसका मुँह बहुत भारी हो गया। दो एक बार उसने लड़की को खींचा। यहाँ तक

कि अपने को अवस्था में कुछ बड़ा समझ कर लड़की को मारना भी उसे उतना अनुचित नहीं जान पड़ा। तब राजा ने झगड़ा मिटाने के अभिप्राय से ध्रुव को भी अपनी गोद के आधे हिस्से में बैठा लिया, परन्तु तब भी ध्रुव का टंटा लगा ही रहा। गोद का आधा अपर भाग हस्तगत करने के हेतु वह पुनः नवीन आक्रमण की चेष्टा करने लगा। उसी वक़्त नये राजपुरोहित बिल्वन ठाकुर कमरे में आ पहुँचे। राजा ने दोनों को गोद से नीचे उतार कर उनको प्रणाम किया। ध्रुव से कहा—"पुरोहितजी को प्रणाम करो।" ध्रुव ने इसे आवश्यक नहीं समझा। वह मुँह में अङ्गुली डाल कर असम्मत भाव से खड़ा रहा। लड़की ने आपही से राजा की देखा देखी पुरोहित को प्रणाम किया।

बिल्वन ठाकुर ने ध्रुव को गोद में बैठा कर और हँस कर पूछा—"तुम्हारी यह सङ्गिनी कौन है और कहाँ से आई है?"

ध्रुव ने कुछ देर सोच कर कहा—"मैं टक टक पल चढूँगा।" टक-टक का मतलब यहाँ घोड़े से है। "र" की जगह ध्रुव अभी तक "ल" का ही उच्चारण करता है।

पुरोहित ने कहा—"वाह, वाह, मेरे प्रश्न और तुम्हारे उत्तर, दोनों का क्या ही मेल है।

एकाएक ध्रुव की दृष्टि उस लड़की पर जा पड़ी। उसके सम्बन्ध में बड़े ही मुख़तसर तौर से अपना मनोगत भाव

प्रकट करके कहा—'वह दुष्ट है, उसे मारूँगा।" यह कह कर ध्रुव ने अपनी छोटी सी मुट्ठी बाँध कर ऊपर उठाई।

राजा ने कहा – "ध्रुव, यह क्या करते हो, छीः।"

एकही फूँक में जैसे दिया बुझ जाता है वैसे ही उस बात से ध्रुव का मुँह तुरंत मलिन हो गया। पहले तो आँसू रोकने के हेतु वह दोनों आँखों को दोनों मुट्ठियों से रगड़ने लगा। आख़िर देखते देखते वह अपने छोटे से कोमल कलेजे को न सम्हाल सका और रो उठा। बिल्वन ठाकुर ने उसे झुला कर, गोद में लेकर, एक बार ऊपर उठा कर और एक बार नीचे उतार कर हैरान कर दिया और ख़ूब ज़ोर से जल्दी जल्दी उच्चारण करके कहा—सुनो, सुनो, ध्रुव, तुमको मैं एक श्लोक सुनाता हूँ। सुनो तो—

"कलह कटकटाङ्गं काठकाठिन्यकाट्यं,
कटनकिटनकीटं कुट्मलं खट्टमट्टम्"

अर्थात् जो लड़का बहुत रोवे उसको कलह कटकटाङ्ग के भीतर बन्द करके अच्छी तरह काठ काठिन्य काट्यम् देना चाहिए। इसके बाद इन सब कटन किटन कीटं को लेकर बस, तीन दिन तक कुट् मलं खट्ट मट्टम्—पुरोहित महाशय इस तरह अंट संट बक गये। ध्रुव का रोना अभी पूरा नहीं हुआ था पर इस युक्ति से बीच में ही उसका रोना एकदम बन्द हो गया। पहले तो वह उस आश्चर्यजनक

व्यवहार से चकित होकर चुपचाप बिल्वन ठाकुर के मुँह की ओर ताकने लगा, फिर उनके हाथ मुँह चमकने की मुद्रा देख कर उसे बड़ा ही कुतूहल हुआ। वह अत्यन्त प्रसन्न होकर बोला—"फिल कहो।" पुरोहित फिर बक गये। ध्रुव ख़ूब हँसते हँसते बोला—"फिल कहो।" राजा ने ध्रुव के आँसू से भीगे हुए गालों को और हँसी से भरे हुए ओठों को बारबार चूमा। उस समय राजा, राज-पुरोहित और उन दोनों लड़के लड़कियों के बीच मानो एक खेल आ खड़ा हुआ।

बिल्वन ठाकुर ने राजा से कहा—"महाराज, आप इन लोगों के साथ में रह कर बड़े अच्छे हैं। दिन रात तीक्ष्ण बुद्धि वालों के साथ रहने से बुद्धि लुप्त हो जाती है। छुरी में बराबर सान चढ़ाते रहने से वह क्रमशः पतली होते होते अदृष्ट हो जाती है, सिर्फ़ एक मोटा बेंट बच रहता है।"

राजा ने कहा—"मेरी समझ में तो सूक्ष्म बुद्धि का कोई लक्षण मुझ में प्रकट नहीं पाया जाता।"

बिल्वन—"नहीं, सूक्ष्म बुद्धि का यही एक लक्षण है, जो सुगम पदार्थ को कठिन कर डाले। संसार में बुद्धिमान् बहुत न होते तो संसार के कितने ही काम सुगम हो जाते। जितना ही सुबिधा करते जाओ उतना ही असुबिधा बढ़ता जायगा। अधिक बुद्धि लेकर आदमी क्या करेगा, यह मेरी समझ में नहीं आता।

राजा ने कहा—"पाँच अँगुलियों से ही दुनिया का काम अच्छी तरह चल जाता है। दुर्भाग्यवश सात अगुलियों के पाने की इच्छा करके केवल काम बढ़ाना है और क्या।" राजा ने ध्रुव को पुकारा। ध्रुव अपनी सङ्गिनो के साथ फिर मेल करके खेल रहा था। राजा का कण्ठस्वर पहचान कर, खेल छोड़ कर तुरन्त उनके पास दौड़ा आया। राजा ने उसको अपने पास बैठा कर कहा—"ध्रुव, वह नया गीत ठाकुर को सुनाओ।" ध्रुव ने बड़े ही असमञ्जस भाव से बिल्वन ठाकुर के मुँह की ओर देखा। राजा ने लालच देकर कहा—"तुम को टकटक पर चढ़ने दूँगा।" ध्रुव अपने अधूरे उच्चारण से पढ़ने लगा।

प्रभु विन तोहि कहाँ लगि तूलैं।

छौजन मिलि मोहि पन्थ बतावत पग पग पै मग भूलैं।
विविध वचन कहि मुनि मन मोहत तिहि संशय पड़ि झूलैं॥
रही तुम्हारे ढिग जैब की अभिलाषा मन मेरे।
जिय के सब सन्देह मिटैहों सुखद बैन सुनि तेरे॥
श्रुति समीप सब मिलि निज निज रुचि करत विचार बतोली।
केहि को मैं प्रणाम करि मानौं सब की सब बिधि बोली॥
अति अधीर चित ह्वै तेरे ढिग जाचन को जब धाऊँ।
करत आड़ सब मिलि ठाढ़े ह्वै आस पास कित जाऊं॥
भेटत नाहिं चरणरज तेरो बार बार पछिताऊँ।

लै धरती की धूल तवै प्रभु बिबस लैाटि पुन आऊँ ॥
बिबिध भाँति की वृत्ति दिवानिस बिबिध दिशा में धावै ।
अपनो अपनो ओर चित्त को गहि गहि कलह मचावै ॥
केहि बिधि काहि संभालैां नित ये आपुस में सब जूझैं ।
मैं अकेल इनकी संख्या बहु कछु उपाय नहिं सूझै ॥
यहै नाथ अब देहु मोहि निज प्रेमपाश सुखदाई ।
सुगम पन्थ दरसावहु जेहि तें कबहु न होय जुदाई ॥
विषयजाल में उलझि कहाँ लैां सहिहैां दुख बिलुखाई ।
जुनसीदन जनि मोहि बिसारहु लेहु चरण लिपटाई ॥

ध्रुव के अर्धस्फुटित स्वर में यह गीत सुन कर बिल्वन ठाकुर का हृदय एकदम पिघल गया । वे बोले—"आशीर्वाद देता हूँ । तुम दीर्घायु हो ।" ध्रुव को गोद में उठा कर बिल्वन ठाकुर ने बड़ी आरज़ू मिन्नत के साथ कहा—"बच्चा, एक बार फिर सुनाओ ।"

ध्रुव ने बड़ी सख्त चुपकी लगा कर असम्मति प्रकट की। पुजारी ने अपनी आँखें ढक कर कहा—"तो मैं रोता हूँ ।"

ध्रुव ने कुछ कातर होकर कहा—"कल सुनाऊँगा, छोः लोओ मत । तुम अभी घल जाओ, बाबा मालेगा ।"

बिल्वन ठाकुर ने हँस कर कहा—"इसकी बोली क्या ही मधुर है ।" राजा से आज्ञा लेकर पुजारी जी बिदा हुए ।

रास्ते में दो आदमी जा रहे थे। एक दूसरे से कह रहा था "तीन दिन उसके द्वार पर जा जाकर सिर फोड़ा पर एक पैसा भी उससे न मिल सका। अब वह रास्ते में कहीं मिला तो बिना उसका शिर फोड़े न रहूँगा, देखूँ तो वह क्या करेगा?"

पीछे से बिल्वन ने कहा—"उससे कोई फल न होगा। बाबू क्या तुम्हें सूझता नहीं, माथे में तो और कुछ है नहीं, केवल दुर्बुद्धि भरी है। दूसरे का सिर फोड़ने की अपेक्षा अपना सिर फोड़ना अच्छा है, क्योंकि इसमें किसी के पास जवाबदिही नहीं।"

वे दोनों आदमी डर गये और ठिठक कर ठाकुर को प्रणाम करके खड़े हो रहे।

बिल्वन ठाकुर ने कहा—"बाबू तुमने अच्छी बात नहीं कही।"

दोनों ने कहा—"हाँ, ठीक है महाशय, अब ऐसी बात फिर कभी न बोलूँगा।"

रास्ते में पुजारीजी को लड़कों ने आ घेरा। बिल्वन ठाकुर ने कहा—"आज तीसरे पहर मेरे यहाँ आना, मैं आज क़िस्सा सुनाऊँगा।" लड़कों ने मारे .खुशी के आपस में कूद फाँद कर हाँ हाँ हीँ हाँ मचा दी। किसी किसी दिन बिल्वन ठाकुर राजधानी के लड़कों को एकत्र करके सरल भाषा में उनको रामायण और महाभारत की कथा सुनाते थे। बीच

बीच में दो एक नीरस कहानी को भी सरल बना कर कहते की चेष्टा करते थे। किन्तु जब देखते थे कि लड़के अब अँगड़ाई जँभाई लेने लगे, तब उन सबों को मन्दिर के बग़ीचे में छोड़ देते थे। उसमें बहुत से वृक्ष फलवाले हैं। लड़के चिल्ला चिल्ला कर बानरों की तरह पेड़ों पर चढ़ जाते थे और डाल डाल पर फलों की लूट पाट मचाते थे। बिल्वन ठाकुर को यह देख कर बड़ा ही विनोद होता था।

बिल्वन ठाकुर संन्यासी परमहंस हैं। वे किस देश के रहनेवाले हैं यह किसी को मालूम नहीं। ब्राह्मण हैं, किन्तु जनेऊ त्याग दिया है। बलिदान आदि बन्द करके वे एक नई रीति पर काली की पूजा कर रहे हैं। पहले पहल तो लोगों ने उसमें सन्देह और असम्मति प्रकट की थी किन्तु अब सबको सह्य हो गया है। बल्कि सब लोग विशेष करके बिल्वन की बात के पाबन्द हैं। बिल्वन सबके घर जा जाकर सबके साथ बात चीत करते हैं, सबकी खोज ख़बर लेते रहते हैं। और रोगी को जो औषध देते हैं वह उसे आश्चर्यरूप से फ़ायदा करता है। सुख दुःख दोनों में सभी लोग उन्हीं के विचार से काम करते हैं। वे मध्यस्थ होकर किसी का झगड़ा मिटा दें अथवा कुछ निर्णय कर दें तो उस पर फिर कोई कुछ नहीं बोलता।

तीसवाँ परिच्छेद

इस साल त्रिपुरा में वह घटना हुई जो इसके पहले कभी न हुई थी। उत्तर ओर से झुंड के झुंड चूहे त्रिपुरा की धान की खेतियों में आ घुसे। उन्होंने कुलधानों को काट डाला। यहाँ तक कि किसानों के घर में जो कुछ धान रक्खे थे उनको भी अधिकांश खा गये। देश में चारों ओर हाय हाय मच गई। देखते देखते अकाल (दुर्भिक्ष) आ पहुँचा। लोग जंगल से फल मूल ला लाकर प्राणरक्षा करने लगे। जंगल का अभाव नहीं है। जंगल में मनुष्यों के पेट की आग बुझानेवाले भाँति भाँति के पौदे हैं। शिकार करके लाये हुए जंगली जानवरों का मांस बाज़ार में अधिक दाम पर बिकने लगा। लोग जंगली भैंस, हिरन, ख़रगोश, साही (शल्लकी) गिलहरी और सूअर आदि जानवरों को मार मार कर खाने लगे। हाथी मिल-जाने पर लोग उसे भी नहीं छोड़ते थे। अजगर को भी खाने लगे। जंगल में खाने लायक़ पक्षियों का अभाव नहीं है। वृक्षों के कोटरों में मधुमक्खियों के मधु सहित छत्ते पाये जाते हैं। जगह जगह नदी का पानी बाँध कर लोग उसमें ज़हरीली लतायें डाल देते थे जिससे मछलियाँ उछल कर ऊपर चली आती थीं। उन मछलियों को पकड़ पकड़ लोग खाने लगे और कुछ सुखा सुखा कर जमा भी करने लगे।

बिल्वन ठाकुर घर घर घूम कर सबको ढाढ़स देने लगे। और खाने योग्य सामग्रियों के संग्रह की कितनी ही तदबीरें बतलाने लगे। उन्होंने बतला दिया कि वन में एक प्रकार का पौदा होता है जिसके बीज बहुत छोटे छोटे होते हैं। जिन बीजों को आग पर भूनने से दूध की तरह उजले पदार्थ बाहर होते हैं, वह थोड़ासा खा लिया जाय तो बहुत शीघ्र क्षुधा शान्त हो जाती है। अब भी लोगों का आहार किसी तरह चला ही जा रहा है। पर हाहाकार बहुत मच गया। कहीं कहीं चोरी डकैती होने लगी। प्रजाओं ने विद्रोहिता का लक्षण प्रकाश किया। वे लोग कहने लगे—"देवी का बलिदान बन्द कर दिया गया है। उसी के अभिशाप से ये सब अनहोनी बातें होने लगी हैं।" बिल्वन ठाकुर ने इस बात को हँस कर उड़ा दिया। उन्होंने तफ़रीहन कहा—"कैलास पर कार्तिकेय और गणेश के बीच कुछ खट पट हुई है, कार्तिकेय के मयूर पर गणेश के चूहे त्रिपुरा भगवती के पास नालिश करने आये हैं।" प्रजाओं ने इस बात को बिलकुल परिहास ही करके नहीं समझा। उन लोगों ने देखा बिल्वन ठाकुर के कथनानुसार—चूहों का दल जिस तरह शीघ्र गति से आया उसी तरह शीघ्रता से सब धानों को नष्ट करके न मालूम कहाँ अन्तर्हित हुआ। तीन दिन के भीतर फिर उसका कहीं नाम निशान न रहा? बिल्वन ठाकुरको अगह-जान (अगाधज्ञान)

होने की निसबत किसी को कुछ सन्देह न रहा। कैलास पर भाई भाई में वैमनस्य होने का गीत बनने लगा। स्त्रियाँ, लड़के और भिखमँगे लोग बड़े चाव से उस गीत को गाने लगे। गली गली में वह गीत प्रचलित हो गया। किन्तु राजा के ऊपर प्रजाओं का असन्तोष कुछ कुछ बना ही रहा। बिल्वन ठाकुर की सलाह से गोविन्दमाणिक्य ने दुर्भिक्ष-पीड़ित प्रजाओं को एक साल का लगान (मालगुज़ारी) माफ़ कर दिया। उसका परिणाम बहुत अच्छा हुआ। किन्तु तो भी कितने ही लोग देवी के शाप से डर कर चटगाँव के पहाड़ी प्रदेश में भाग भाग कर जाने लगे। यहाँ तक कि ख़ुद राजा के मन में भी सन्देह उत्पन्न होने लगा। उन्होंने बिल्वन ठाकुर को बुला कर कहा—"पुजारी जी, राजाही के पाप से प्रजागण कष्ट पाते हैं। क्या मैंने देवी का बलिदान बन्द करके पाप किया है? क्या उसी का यह दण्ड है?"

बिल्वन ठाकुर ने इन बातों को एकदम उड़ा दिया और कहा—"देवी के निकट जब हज़ार नरबलि दी जाती थी तब आपकी प्रजाओं की अधिक हानि होती थी या इस दुर्भिक्ष से अधिक हुई है?"

राजा इसका कुछ उत्तर न दे सके, किन्तु उनके मन का सन्देह सम्पूर्ण रूप से दूर न हुआ। प्रजायें उनसे अप्रसन्न हैं, उन पर सन्देह प्रकट करती हैं, इन बातों की चोट उनके

हृदय में लगी है। बल्कि इन बातों से स्वयं उनको अपने ऊपर सन्देह उत्पन्न हुआ है। उन्होंने लंबी साँस लेकर कहा—"कुछ भी समझ में नहीं आता।"

बिल्वन ठाकुर ने कहा—"ज़्यादा समझने की ज़रूरत क्या? कितने ही दल चूहे आकर धान नाश कर गये, इसका कारण नहीं समझा—इससे क्या? "मैं अन्याय न करूँगा, मैं सब की भलाई करूँगा।" इतना समझ लेने ही से सब हो गया। इसके बाद विधाता का जो काम है सो विधाता करेंगे। वे हम लोगों को हिसाब देने तो आवेंगे नहीं।"

राजा ने कहा—"तुम घर घर घूम कर बराबर अपने कर्तव्य का पालन कर रहे हो, जितना ही संसार का उपकार कर रहे हो उतना ही तुम धन्यवाद पा रहे हो। इस आनन्द में तुम्हारे सब सन्देह चले जाते हैं। मैं दिन रात माथे पर मुकुट लिये सिंहासन पर बैठा रहता हूँ। केवल चिन्ताओं का बोझ सिर पर चढ़ाये हूँ। तुम्हारा काम देख देख कर मेरा जी तरसता है।"

बिल्वन ठाकुर ने कहा—"महाराज, मैं तो आपही का एक अंश हूँ। आप यदि इस सिंहासन पर बैठ कर न विराजते तो मैं कौन काम कर सकता। आप और हम दोनों मिल कर तब पूरे हुए हैं।"

यह कह कर बिल्वन ठाकुर बिदा हुए। राजा माथे पर मुकुट रख कर सोचने लगे। उन्होंने मन ही मन कहा—"मुझे अभी बहुत से काम करने हैं, पर मुझ से कुछ करते नहीं बनता। मैं अपनी चिन्ताओं को लेकर ही निश्चिन्त रहता हूँ। इसी कारण मैं अपने ऊपर प्रजाओं का विश्वास उत्पन्न नहीं करा सकता। मैं राज्यशासन के योग्य नहीं हूँ।"

इकतीसवाँ परिच्छेद

मुग़ल सेनाओं के नायक होकर नक्षत्रराय रास्ते में तँतुल नाम की छोटी सी बस्ती में ठहरे थे। सबेरे ही रघुपति ने आकर कहा—"अब यहाँ से प्रस्थान किया जाय, महाराज चलने के लिए तैयार होवें।"

रघुपति के मुँह से एकाएक महाराज शब्द सुन कर बड़ा ही मीठा लगा। नक्षत्रराय मारे ख़ुशी के फूल उठे। कल्पना में संसार के सभी लोगों के मुँह से उन्हें महाराज सम्भाषण सुनाई देने लगा। वे दरबार को जगमगाते हुए त्रिपुरा के ऊँचे सिंहासन पर जा बैठे। मन की उमङ्ग में बोले—"पुरोहित जी, मैं आपको कभी अलग न होने दूँगा। आपको बराबर दरबार में रहना होगा। आप क्या चाहते हैं—यही ज़रा मुझे

कह सुनाइए।" नक्षत्रराय ने मन ही मन मानों खेलवाड़ की तरह रघुपति को तुरन्त ज़मीन का एक बड़ा हिस्सा जागीर दे डाला।

रघुपति ने कहा—"मैं कुछ नहीं चाहता।"

नक्षत्रराय ने कहा—"सो क्या, यह नहीं होगा। कुछ आपको ग्रहण करना ही होगा। कयलासर नाम का परगना मैंने आपको दे दिया। आप मुझसे अभी लिखा लीजिए।"

रघुपति ने कहा—"ये सब बातें पीछे देखी जायँगी।"

नक्षत्रराय—"पीछे क्यों, मैं अभी देता हूँ। सारा कयला-सर परगना आप ही का हुआ। मैं आपसे एक पैसा भी ख़ज़ाना नहीं लूँगा।" यह कह कर नक्षत्रराय सिर उठा कर और सीना तान कर बैठे।

रघुपति—"मरने के लिए तीन हाथ ज़मीन मिल जाने ही से मैं सुखी हूँ। मैं और कुछ नहीं चाहता।" यह कह कर रघुपति चले गये। उनको जयसिंह का स्मरण हो आया। जयसिंह यदि रहता तो पुरस्कार स्वरूप मैं कुछ ले भी लेता—जब जयसिंह नहीं है तब सारा त्रिपुरा राज्य रघुपति के लिए मिट्टी के ढेर के सिवा और कुछ नहीं है।

रघुपति अब नक्षत्रराय को राजमद से मत्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। उनके मन में यह डर है कि इतना आयोजन

करके पीछे कहीं सब व्यर्थ न हो जाय। पीछे यह न हो कि, दुर्बल हृदय के नक्षत्रराय त्रिपुरा जाकर बिना युद्ध किये ही राजा के पास अपने को गिरफ़्तार करा दें। किन्तु कमज़ोर दिल में एक बार राज्यमद उत्पन्न होने से फिर कोई तरद्दुद नहीं। रघुपति अब नक्षत्रराय को अवहेला की दृष्टि से नहीं देखते। बात बात में उनकी इज़्ज़त करते हैं। सब बातों में उनकी सलाह लेते हैं और उनका ज़बानी हुक्म लेकर सब काम करते हैं। मुग़ल सेनायें उनको महाराजा साहब कह कर पुकारती हैं; उन्हें देख कर वे बड़ी आतुरता से उठ कर खड़ी होती हैं—हवा तेज़ बहने से जिस तरह धानों के शीश झुक जाते हैं उसी तरह नक्षत्रराय को आते देख कर पंक्ति की पंक्ति मुग़ल सेनायें सिर झुका कर सलाम करती हैं। सेनापति बड़ी इज़्ज़त के साथ उन्हें लम्बी सलाम करते हैं। सैकड़ों खुली तलवारों के बीच ऊँचे हाथी की पीठ पर राजचिह्न से अङ्कित सुनहरे हौदे में बैठ कर वे प्रस्थान करते हैं। साथ साथ उत्साहवर्धक बाजे बजते जाते हैं। झंडेदार राजचिह्न-सूचक पताका फहराती हुई आगे आगे चलती हैं। वे जिस गाँव होकर जाते हैं उस गाँव के लोग सेनाओं के डर से घर द्वार छोड़ कर पहले ही भाग जाते हैं। उन लोगों को इस तरह डर कर भगते देख नक्षत्रराय के मन में गर्व का उदय हो आता था। उनके मन में होता था कि मैं दिग्विजय करता

चला जा रहा हूँ। छोटे छोटे ज़मीदार अनेक प्रकार के उपहार ले लेकर सामने हाज़िर होते और सलाम करके चले जाते थे। उन लोगों को नक्षत्रराय पराजित राजा करके मानते हैं— और महाभारत के दिग्विजयी पाण्डवों की बात उन्हें याद आती है।

एक दिन सेनाओं ने आकर और सलाम करके कहा— "महाराजा साहब," नक्षत्रराय तन कर बैठे। "हम लोग महाराज के कारण जान देने आये हैं। हम लोग जान की परवा नहीं रखते। हम लोगों का यह नियम हमेशा के लिए है—जिस रास्ते से लड़ाई करने जाते हैं उस रास्ते के आस पास वाले गाँवों को लूटते जाते हैं—इसमें कोई दोष है, ऐसा किसी शास्त्र में नहीं लिखा है।"

नक्षत्रराय ने सिर हिला कर कहा—"ठीक बात, ठीक बात।"

सैनिकों ने कहा—"ब्राह्मण ने हम लोगों को लूट करने से रोका है। हम लोग जान देने जा रहे हैं और कुछ लूट पाट तक भी न करने पावेंगे; यह बड़ा ही बेइन्साफ़ है।"

नक्षत्रराय फिर सिर हिला कर बोले—"ठीक बात, ठीक बात।"

"महाराज का हुक्म हो तो हम लोग ब्राह्मणदेव की बात न मान कर लूट पाट करते चलें।"

नक्षत्रराय ने बड़े गर्व से कहा—"ब्राह्मण कौन हैं। वे क्या जानते हैं। मैं तुम लोगों को हुक्म देता हूँ। तुम लोग मज़े में लूट पाट करते चलो।" एक बार इधर उधर घूम कर देखा, किसी तरफ़ रघुपति को न देख कर निश्चिन्त हुए। रघुपति को इस प्रकार अकातर भाव से अतिक्रम करके उन्होंने अपने मन में बड़ी ही ख़ुशी हासिल की। प्रभुता का मद मद्य की तरह उनकी नस नस में फैलने लगा। वे संसार को नई दृष्टि से देखने लगे। कल्पित व्योमयान (बैलून) पर चढ़ कर माने वे इस पृथ्वी को बहुत नीचे मेघ की तरह मलिन देखने लगे। यहाँ तक कि बीच बीच में यदा कदा रघुपति को भी कुछ नहीं समझते। वे एकाएक मद में मस्त होकर गोविन्दमाणिक्य के ऊपर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे। मनही मन बार बार कहने लगे—"मुझको देश निकाले की सज़ा! मुझको एक साधारण प्रजा की तरह कचहरी में खड़ा करना! अब की बार देखता हूँ, कौन किसे निर्वासित करता है। इस बार त्रिपुरा की सारी प्रजाओं को नक्षत्रराय का प्रताप मालूम हो जायगा।" नक्षत्रराय मारे गर्व के फूल उठे। बेचारे निरपराधी गाँववालों पर व्यर्थ अत्याचार और लूट पाट से रघुपति को बड़ी नफ़रत थी। उन्होंने इन बातों को रोकने के लिए बहुत उपाय किये। किन्तु मुग़ल सेनाओं ने नक्षत्रराय की आज्ञा पाकर उनकी बातों पर ध्यान न दिया।

आख़िर रघुपति ने नक्षत्रराय से जाकर कहा—इन बेचारे असहाय गाँव वालों पर यह अत्याचार क्यों ?

नक्षत्रराय ने कहा—"तुम इन सब बातों को क्या जानोगे। युद्ध के अवसर में सेनाओं को लूट पाट से रोक कर हतोत्साह करना ठीक नहीं है।"

नक्षत्रराय की बात सुन कर रघुपति कुछ अचम्भे में आ गये। एकाएक नक्षत्रराय का ऐसा महत्वाभिमान देख कर वे मन ही मन हँसे, और प्रकट रूप से कहने लगे—"अभी लूट पाट करने देने से पीछे इन लोगों का सँभालना कठिन होगा। ये लोग सारे त्रिपुरा को लूट लेंगे।"

नक्षत्रराय ने कहा—"उसमें हानि ही क्या ? मैं तो वही चाहता हूँ। त्रिपुरा एक बार समझे तो, नक्षत्रराय को देश से निकालने का फल क्या हुआ। तुम इस विषय में कुछ नहीं समझते। तुमने युद्ध ही कब किया है जो तुम इन बातों को समझोगे ?"

इस बात को सुन कर रघुपति मन ही मन बहुत प्रसन्न हुए। नक्षत्रराय की बातों का कुछ उत्तर न देकर वे चले गये उनकी इच्छा यही थी कि नक्षत्रराय बिलकुल काठ के पुतले की तरह न रह कर कुछ चातुर्य भी सीखें।

बत्तीसवाँ परिच्छेद

त्रिपुरा में जब चूहों का उपद्रव शुरू हुआ था, तब सावन का महीना था, खेतों में केवल मकई फल चुकी थी और पहाड़ी ज़मीन में धान पकने लग गया था। तीन महीने किसी तरह कट गये। अगहन के महीने में जब कि धान काटने का समय आया तब देश में सर्वत्र आनन्द छा गया। किसान* लोग स्त्री, बालक, युवा और वृद्धों के साथ मिल कर हाथ में हँसुआ लिये अपने अपने खेत में जा पहुँचे। बड़े मीठे सम्बोधन से एक दूसरे को पुकार रहा है। किसानों की स्त्रियाँ रास्ते में, मैदान में झुंड बाँध बाँध कर गाने लगीं। राजा के ऊपर जो प्रजाओं का असन्तोष था सो दूर हो गया। राज्य में सर्वत्र शान्ति छा गई। ऐसे समय में ख़बर आई कि नक्षत्रराय राज्य हड़पने के मतलब से असंख्य सेनाओं को साथ लिये त्रिपुरा राज्य की सीमा में आ पहुँचे हैं। और विशेष रूप से लूट पाट और प्रजाओं पर अत्याचार करना शुरू कर दिया है। इस ख़बर से सारा देश काँप उठा।

---

* व्यवहारतः ये लोग किसान नहीं कहे जा सकते, क्यों कि ये लोग यथाविधि खेती नहीं करते। जंगल जला कर वर्षा के आरम्भ में केवल बीज बखेर देते हैं। इस तरह की खेती को जूम कहते हैं और खेतिहरों को जूमिया कहते हैं।

यह ख़बर राजा के हृदय में छुरी की तरह चुभ गई। दिन भर यों ही चुभती रही। ठहर ठहर कर हरेक बार नई बात की तरह उनके मन में स्मरण होने लगा कि नक्षत्रराय उन पर आक्रमण करने के लिए आ रहे हैं। वे नक्षत्रराय के उस स्वाभाविक सुन्दर मुख को बार बार अपने नेह भरे नेत्रों के सम्मुख देखने लगे और उसी के साथ साथ यह भी मन में होने लगा कि वही नक्षत्रराय कितनी ही सेनाओं के साथ हाथ में तलवार लिये उन पर आक्रमण करने के लिए आ रहे हैं। वे अपने मन में कहने लगे—साथ में एक सेना तक न लेकर नक्षत्रराय के सामने उस बड़े युद्ध-क्षेत्र में छाती फैला कर खड़े हो जायँ और नक्षत्रराय के सहस्रशः सैनिकों की तलवारें एक साथ उनके हृदय का रक्तपान करें।" उन्होंने ध्रुव को अपने पास खींच कर कहा—"ध्रुव, क्या तू भी इस मुकुट के लिए मेरे साथ झगड़ा करेगा?" मुकुट को धरती पर फेंक दिया। एक मोती का बड़ा दाना टूट कर गिर पड़ा।

ध्रुव ने हौसले के साथ हाथ बढ़ा कर कहा—"मैं लूँगा।"

राजा ने ध्रुव के सिर पर मुकुट रख कर और उसे गोद में बैठा कर कहा—"यह लो, मैं किसी के साथ झगड़ा करना नहीं चाहता।" यह कह कर उन्होंने बड़े चाव से ध्रुव को छाती

से लगा लिया। इसके बाद सारा दिन "यह केवल मेरे पाप का फल है।" कह कर राजा अपने आत्मा के साथ विवाद करने लगे। बिना पाप के उदय हुए भाई कभी भाई के ऊपर आक्रमण नहीं कर सकता। इसी बात को मन में ठीक मान कर उन्हें कुछ धैर्य हुआ। उन्होंने मन में मान लिया कि यह ईश्वर की प्रेरणा है। ईश्वर के दरबार से ऐसी ही आज्ञा आई है।

"नक्षत्रराय का क्या सामर्थ्य है कि उस आज्ञा का उल्लङ्घन कर सके।" यही मान कर उनके टूटे दिल ने कुछ सन्तोष पाया। वे अपनेही माथे पाप चढ़ाने को राज़ी हैं। इससे नक्षत्रराय के ऊपर से मानो कितना ही पाप का भार टल गया।

बिल्वन ठाकुर ने आकर कहा—"यह समय क्या आकाश की ओर देख कर सोचने का है?"

राजा ने कहा—"ये सब मेरे पाप के फल हैं।"

बिल्वन ने कुछ रुष्ट होकर कहा—"महाराज, इन सब बातों के सुनने से मैं अधीर हुआ जाता हूँ। यह किसने कहा है कि दुःख पाप का ही फल है। धर्म का फल भी दुःख हो सकता है। कितने ही धर्मात्मा लोगों ने दुःख में ही अपना जीवन बिताया है। धर्म का फल सुख नहीं है। धर्म का फल धर्म ही है।"

राजा ने इसका कुछ जवाब न दिया।

बिल्वन ठाकुर ने कहा—"महाराज ने क्या कुछ पाप किया था, जिससे यह घटना हुई है?"

राजा ने कहा—"अपने भाई को देश से निकाल दिया था।"

बिल्वन ठाकुर ने कहा—"आप ने अपने भाई को न निकाल कर अपराधी को निर्वासित किया है।"

राजा ने कहा—"दोषी होने पर भी भाई के निकालने का पाप अवश्य है। उस पाप का फल कुछ न कुछ अवश्य ही होगा। यद्यपि दुर्योधनादि दुराचारी थे तथापि उन्हें मार कर पाण्डव शान्तिपूर्वक राज्य को सुख से नहीं भोग सके। पीछे यज्ञ करके उस पाप का प्रायश्चित्त किया। पाण्डवों ने लड़ कर जीते जी कौरवों का राज्य-लाभ किया और कौरवों ने मर के ही पाण्डवों का राज्य हरण किया, अर्थात् बन्धु-वियोग से व्यथित होकर पाण्डव राज्य का उपभोग न कर सके। मैंने नक्षत्र को निकाला है, नक्षत्र मुझको निकालने आ रहा है।"

बिल्वन ने कहा—"पाण्डवों ने पाप के शान्त्यर्थ कौरवों के साथ युद्ध नहीं किया था। उन लोगों ने राज्य पाने ही के लिए किया था। किन्तु महाराज ने पाप के शान्त्यर्थ अपने सुख दुःख का कुछ विचार न करके धर्म का पालन किया

है, इसमें पाप की बात तो मैं कुछ भी नहीं देखता। यदि आप इसे पाप ही समझते हों तो प्रायश्चित्त की व्यवस्था देने में मुझे कोई उज्र नहीं है। मैं ब्राह्मण उपस्थित हूँ। मुझे सन्तुष्ट कर देने ही से पाप का प्रायश्चित्त हो जायगा।"

राजा मुसकरा कर चुप हो रहे। बिल्वन ठाकुर ने कहा—"जो कुछ हो, अभी युद्ध की तैयारी कीजिए, अब विलम्ब करना ठीक नहीं।"

राजा ने कहा—"मैं युद्ध न करूँगा।"

बिल्वन ठाकुर ने कहा—"यह कैसे होगा। आप बैठे बैठे सोचा करें। मैं अभी सेनाओं का संग्रह करने जाता हूँ। इस समय सब प्रजागण अपने अपने खेत गये हैं। अभी पूरे तौर से सेनाओं का मिलना कठिन है" यह कह कर और किसी उत्तर की प्रतीक्षा न करके बिल्वन ठाकुर चले गये।"

एकाएक ध्रुव के मन में क्या हो आया कि उसने राजा के पास आकर और उनके मुँह की ओर देख कर पूछा—"काका कहाँ हैं?"

राजा ने कहा—"काका आ रहे हैं"। उनकी आँखों में आँसू भर आये।

तेंतीसवाँ परिच्छेद

बिल्वन ठाकुर के सिर पर भारी काम आ पड़ा। उन्होंने चटगाँव के पहाड़ी प्रदेश में भाँति भाँति के उपहारों के साथ दूत भेजे और कूकी जाति के प्रधान के पास कहला भेजा कि वे कूकी सेनाओं के द्वारा सहायता करें। युद्ध का नाम सुन कर वे लोग मारे ख़ुशी के उछल उठे। कूकी जाति के जितने लाल (प्रधान) थे, उन लोगों ने युद्ध-संवाद-सूचक हँसुआ लाल कपड़े में लपेट कर दूतों के हाथ गाँव गाँव में भेज दिया। देखते ही देखते दल के दल कूकी-सेना चटगाँव के पहाड़ पर से त्रिपुरा के पहाड़ पर आ पहुँची। उन लोगों को किसी नियम का पाबन्द करके रखना कठिन है। बिल्वन ठाकुर ने स्वयं त्रिपुरा के गाँव गाँव में जाकर अच्छे अच्छे हट्टे कट्टे साहसी जवानों को चुन चुन कर सेनाओं में भरती किया। बिल्वन ठाकुर ने आगे बढ़ कर मुग़ल सेनाओं पर आक्रमण करना उचित नहीं समझा। उन्होंने यही सोचा कि जब वे लोग समतल भूमि को पार करके कुछ कठिन पहाड़ी रास्ते में आवेंगे तब जंगल और पहाड़ के अनेक गुप्त स्थानों से एकाएक उन लोगों पर आक्रमण करके उन्हें चकित कर डालेंगे। उन्होंने अपनी हार होने की बात सोच कर बड़े बड़े पत्थरों से नदी का पानी रोक लिया। यह इसलिए कि जब

मुग़ल सेना नदी के पास आवेगी तब इसी पानी के द्वारा वह बहा दी जा सकेगी।

इधर नक्षत्रराय देश को लूटते हुए त्रिपुरा के पहाड़ी प्रदेश में आ पहुँचे। धान की कटाई ख़तम हो चुकी है। सभी किसान तीर कमान लेकर लड़ने के लिए तैयार हैं। कूकी-सेना उमड़ने पर उतारू हो गई। झरने के जलराशि की तरह अब रोके पर भी नहीं रुकती।

गोविन्दमाणिक्य ने कहा—"मैं युद्ध न करूँगा।"

बिल्वन ठाकुर—"महाराज, आप यह क्या कह रहे हैं।"

राजा—"मैं राज्य करने योग्य नहीं। उसीके ये सब लक्षण दिखाई दे रहे हैं। इसीसे प्रजाओं की श्रद्धा मुझ पर से उठ गई। इसीसे अकाल की घोषणा हुई और इसी कारण यह युद्ध की सम्भावना हो रही है। राज्य छोड़ देने के हेतु ये सब भगवान् के आदेश हैं।

बिल्वन ने कहा—ये कभी भगवान् के आदेश नहीं। ईश्वर ने राज्य का भार तुम्हारे हाथ सौंपा है। जितने दिनों तक राज काज निर्विवाद था उतने दिनों तक तुमने अपने सहज कर्तव्य का पालन किया। जब राज्य का बोझ कुछ भारी हो उठा है तब तुम उसे दूर पटक कर स्वाधीन होने के लिए ईश्वर की आज्ञा कह कर लोगों को भुलावा देते हो और अपने को सुखी करना चाहते हो।"

यह बात गोविन्दमाणिक्य के मन में चुभ गई। वे चुप हो कर कुछ देर बैठे रहे, तदनन्तर अधीर होकर बोले—"मान लो कि मेरी हार हुई और नक्षत्रराय मुझको मार कर राजा हुए।"

बिल्वन—"यदि वास्तव में यही घटना होगी तो महाराज के लिए सोच न करूँगा, किन्तु महाराज यदि अपने कर्तव्य से विमुख होकर भाग जायँगे तो हम लोगों को अवश्य खेद होगा।"

राजा कुछ कातर होकर बोले—"अपने भाई का रक्तपात करूँगा?"

बिल्वन—"कर्तव्य के आगे भाई बहन कोई नहीं। कुरुक्षेत्र की लड़ाई के वक़्त श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन को क्या उपदेश दिया था? याद है?"

राजा—"तुम्हारा अभिप्राय यही है ना कि मैं अपने हाथ में तलवार लेकर नक्षत्रराय को मारूँ।"

बिल्वन—"हाँ।"

ध्रुव ने अचानक आकर बड़ी गम्भीरता से कहा—"छीः "यह बात न बोलो" ध्रुव खेल रहा था। उन दोनों का वाद प्रतिवाद सुन कर उसने समझा कि ये दोनों आपस में झगड़ रहे हैं, अतएव ऐसे मौक़े पर उन दोनों को डाटना ज़रूरी है—यह सोच कर उसने सहसा वहाँ आकर और सिर हिला कर कहा—"छीः यह बात न बोलो।"

बिल्वन ठाकुर को उसकी यह बात सुन कर बड़ा ही हर्ष हुआ। वे हँस उठे और ध्रुव को गोद में बैठा कर उसका मुँह चूमने लगे। राजा को हँसी न आई। उनके मन में हुआ कि माना हमने उस बालक के मुँह से देववाणी सुनी है। वे संशय-रहित स्वर में बोले—"मैंने पक्का कर लिया है। मैं रक्तपान का प्रसङ्ग न आने दूँगा। मैं युद्ध कदापि न करूँगा।"

बिल्वन ठाकुर कुछ देर चुप रहे। आख़िर उन्होंने कहा—"यदि महाराज युद्ध करना नहीं चाहते ता और ही काम करें। नक्षत्रराय से मिल कर आप उन्हें युद्ध करने से रोकें।"

बिल्वन ठाकुर की इस राय को गोविन्दमाणिक्य ने पसन्द किया।

बिल्वन ठाकुर ने कहा—"इस विषय का एक पत्र लिख कर नक्षत्रराय के पास भेजा जाय।" अन्त में यही बात निश्चित हुई।

चौंतीसवाँ परिच्छेद

नक्षत्रराय सेनासहित आगे बढ़ने लगे। कहीं कुछ विघ्न न हुआ। त्रिपुरा के जिस गाँव में वे गये वहीं सब लोगों ने राजा मान कर उनका मान किया। पग पग में वे राजत्व-पद

का अनुभव करने लगे। तृष्णा की मात्रा उन्हें उत्तरोत्तर अधिक बढ़ने लगी। चारों ओर के लम्बे चौड़े खेत, गाँव, पहाड़ और नदी आदि सब मेरे हैं ऐसा उनके मन में होने लगा। उस अधिकार-व्याप्ति के साथ ही साथ वे अपने को बहुत बड़ा प्रतापी मानने लगे। मुग़लसेना जब जो चाहती थी तभी आप उनके लिए वैसा हुक्म दे देते थे। वे समझते थे कि ये सब मेरे ही हैं और मेरे राज्य में आपड़े हैं। इन लोगों को किसी सुख से वञ्चित करना ठीक नहीं। मुग़लसेना जब अपने देश लौट कर जायगी तब उनकी ख़ातिर की, उनकी उदारता की और उनकी विशेषदानशीलता की बहुत बहुत तारीफ़ करेगी और कहेगी—"त्रिपुरा के राजा कुछ ऐसे वैसे नहीं हैं।" मुग़लसेनाओं से वाहवाही लूटने के लिए वे हमेशा ही उत्सुक रहा करते थे। वे लोग उनके सम्बन्ध में जब किसी तरह का कर्णमधुर सम्भाषण करते थे तब वे पानी पानी हो जाते थे। उन्हें हमेशा इस बात का भय लगा रहता था कि कहीं पीछे किसी तरह की मेरी शिकायत न हो।

रघुपति ने विस्मित होकर कहा—"युद्ध की कोई तैयारी देखने में नहीं आती।"

नक्षत्रराय—"डर मालूम होता है" यह कह कर ख़ूब ज़ोर से हँसने लगे।

रघुपति ने हँसने का कोई विशेष कारण नहीं देखा तो भी वे हँस पड़े।

नक्षत्रराय ने कहा—"नक्षत्रराय नवाब की सेना लेकर आये हैं, यह कुछ साधारण बात नहीं है।"

रघुपति—"देखिए, इस बार कौन किसे निर्वासित करता है?"

नक्षत्रराय—"मैं चाहूं तो देश-निकाले की सज़ा दे सकता हूँ, क़ैद भी कर सकता हूँ और फाँसी भी दे सकता हूँ। क्या करूँगा, उसका अभी कुछ निश्चय नहीं किया है।" यह कह कर वे बड़े विज्ञभाव से ग़ौर करने लगे।

रघुपति—"महाराज, आप इतना सोच विचार न करें। अब भी वक़्त बहुत है, लेकिन मुझे डर होता है कि कहीं गोविन्द-माणिक्य बिना युद्ध किये ही आप को पराजित न करदें?"

नक्षत्रराय—"सो क्यों कर होगा?"

"गोविन्दमाणिक्य अपनी सेना को किसी जगह छिपा रक्खेंगे और विशेषरूप से भ्रातृस्नेह दिखला कर आपको गले लगा कर बोलेंगे—'मेरे छोटे भैया, चलो, घर चलो, मक्खन मिश्री चल के खाओ।" तब महाराज रो कर कहेंगे—"जो आपकी आज्ञा, मैं अभी चलता हूँ। बहुत देर करने की ज़रूरत क्या।" यह कह कर तुरंत नागौड़ी जूते पाँव

पहन कर भाई जी के पीछे पीछे सिर नीचा करके टट्टू की तरह चल पड़ेंगे। बादशाह की मुग़ल सेना यह तमाशा देख कर हँसते हँसते घर लौट जायगी।"

नक्षत्रराय रघुपति के मुँह से यह उत्कट परिहास सुन कर बड़े ही अधीर हुए। हँसने की चेष्टा की पर हँस न सके। वे बोले—"क्या उन्होंने मुझे एक छोटा बच्चा करके समझ रक्खा है जो इस तरह ठग लेंगे। ऐसा कभी न होने पावेगा।"

उसी दिन गोविन्दमाणिक्य की चिट्ठी लेकर एक दूत नक्षत्रराय के ख़ेमे में आ पहुँचा। वह चिट्ठी रघुपति के हाथ पड़ी। उन्होंने उसे खोल कर पढ़ा। राजा (गोविन्दमाणिक्य) ने विशेष प्रेम भाव प्रकट करके भेट के लिए प्रार्थना की है। रघुपति ने नक्षत्रराय को चिट्ठी देखने न दी। उन्होंने दूत को यह कह कर बिदा कर दिया कि गोविन्दमाणिक्य को तकलीफ़ उठा कर इतनी दूर आने की ज़रूरत नहीं। महाराज नक्षत्रमाणिक्य अपनी सेना और तलवार लेकर शीघ्रही उनसे मिलेंगे। इतने ही थोड़े समय में मानो भाई की जुदाई से वे अधिक अधीर हो पड़े हैं। आठ वर्ष तक इनकी जुदाई को वे कैसे सहन करते?"

रघुपति ने नक्षत्रराय से जाकर कहा—"गोविन्दमाणिक्य ने अपने निर्वासित छोटे भाई को एक अत्यन्त प्रेमपरिपूर्ण पत्र लिख भेजा है।"

नक्षत्रराय ने बड़ी अवहेला का भाव व्यञ्जित करते हुए हँस कर कहा—"क्या सच मुच चिट्ठी भेजी है? कहाँ है? देखें।" यह कह कर उन्होंने चिट्ठी लेने के लिए हाथ बढ़ाया।

रघुपति—"मैंने वह पत्र महाराज को दिखलाना आवश्यक नहीं समझा। पत्र पढ़ कर उसी वक्त उसे फाड़ कर फेंक दिया और उनके दूत को कह दिया कि लड़ाई के सिवा इसका और कोई जवाब नहीं।"

नक्षत्रराय ने कुछ हँस कर कहा—"तुमने कहा है, लड़ाई के सिवा इसका और कोई जवाब नहीं! अच्छा जवाब कहला भेजा है।"

रघुपति—"गोविन्दमाणिक्य यह उत्तर सुन कर सोचेंगे कि जब राज्य से निकाल दिया था तब तो मेरा भाई बड़े ही सीधे तौर से चला गया था किन्तु वही भाई घर लौट आने के वक्त आज भारी बखेड़ा कर रहा है।"

नक्षत्रराय—"हाँ, अब समझेंगे कि मेरा भाई साधारण मनुष्य नहीं है। जब जी चाहेगा निकाल देंगे और जब जी में आवेगा बुला लेंगे सो सब अब न होगा।" यह कह कर वे बड़ी ख़ुशी के साथ हँसने लगे।

पैंतीसवाँ परिच्छेद

नक्षत्रराय का ऐसा कोरा जवाब सुन कर गोविन्दमाणिक्य बड़े ही मर्माहत हुए। बिल्वन ठाकुर ने अपने मन में सोचा कि महाराज अब युद्ध में असम्मति प्रकट न करेंगे। किन्तु गोविन्दमाणिक्य ने कहा—"यह बात नक्षत्रराय की कही हुई नहीं है। यह बात उस पुरोहित ने कहला भेजी है। नक्षत्र के मुँह से ऐसी बात कभी नहीं निकल सकती।"

बिल्वन—"महाराज की राय अब क्या होती है ?

राजा—"मैं नक्षत्र को किसी तरह एक बार देखने पाता तो इन सब बखेड़ों को ठंडा कर देता।"

बिल्वन—"अगर मुलाक़ात न हो ?"

राजा—"तो मैं राज्य छोड़ कर चला जाऊँगा।"

बिल्वन—"अच्छा, मैं एक बार कोशिश करके देखता हूँ।"

पहाड़ के ऊपर नक्षत्रराय का ख़ेमा खड़ा है। चारों ओर घना जंगल है। कहीं बाँस का वन, कहीं बेंत का वन और कहीं सरकण्डे का वन है। धरती विविध प्रकार के पौदे और लताओं से ढकी है। सैन्यगण जंगली हाथी आदि जानवरों के चलने के रास्ते का लक्ष्य करके जैसे तैसे बड़े कष्ट से पहाड़ पर चढ़ आये हैं। दिन थोड़ा सा बाक़ी है। सूर्य भगवान् पहाड़ के

पच्छिमी भाग में उतर आये हैं। पूरब के भाग में छाँह रहने के कारण अँधेरा सा हो गया है। सूर्य अस्त होने के समय का धुँधलापन और वृक्षों की छाँह दोनों ने मिल कर असमय में ही जंगल के भीतर साँझ कर दी है। जाड़े के दिनों में शाम के वक्त जैसे धरती से कुहड़ा उठता है उसी तरह धरती से भाप उठ रही है। झिल्लियों की झनकार से निस्तब्ध वन शब्दायमान होने लगा है। बिल्वन जब खे़मे में जा पहुँचे तब सूर्यास्त हो चुका था। किन्तु पच्छिम की ओर आकाश में सुनहरी लकीरें अभी तक कुछ कुछ दिखाई दे रही हैं। पच्छिम ओर समतल पहाड़ी भूमि में जो घना श्यामल वन है, वह उन सुनहरी लकीरों की छाया पड़ने से हरे रङ्ग के स्थिर समुद्र की तरह देख पड़ता है। मुग़लसेना कल भोर में यहाँ से आगे बढ़ेगी। रघुपति एकदल सेना और सेनापति को साथ लेकर रास्ता ढूँढ़ने बाहर गये हैं, अभी तक लौटे नहीं हैं। यद्यपि रघुपति के परोक्ष में भी नक्षत्रराय के पास ग़ैर शख़्स को न जाने देने की सख़्त ताक़ीद थी तथापि संन्यासी जान कर बिल्वन को किसी ने नहीं रोका। बिल्वन ने नक्षत्रराय के पास जाकर कहा—"महाराज गोविन्दमाणिक्य ने आपको यह पत्र लिख कर स्मरण किया है"—यह कह कर नक्षत्रराय के हाथ में पत्र दिया। नक्षत्रराय ने थरथराते हुए हाथ से पत्र लिया। पत्र खोलते समय उन्हें लज्जा और

भय होने लगा । जितनी देर तक रघुपति, गोविन्दमाणिक्य और उनके बीच में व्यवधान होकर खड़ा रहता था उतनी देर तक वे सर्वथा निश्चल रहते थे । माने अब वे किसी तरह गोविन्दमाणिक्य को देखना नहीं चाहते। गोविन्दमाणिक्य का यह दूत एकदम नक्षत्रराय के सामने आकर खड़ा हो गया। इस कारण नक्षत्रराय लज्जित हो पड़े और मन ही मन कुछ कुढ़े भी। उनके मन में आया कि अगर रघुपति वहाँ मौजूद रहते तो हर्गिज़ इस दूत को मेरे पास न आने देते । मन में बड़ी देर तक सोच विचार कर आख़िर पत्र खोला। गोविन्द-माणिक्य ने उन्हें एक बात भी भर्त्सना की नहीं लिखी है। उस पत्र में एक बात भी उनको लजानेवाली नहीं। गोविन्द-माणिक्य ने ज़रा भी ज़ोर उन पर ज़ाहिर नहीं किया है। नक्षत्रराय जो सैन्यसमाज लेकर उन पर आक्रमण करने आ रहे हैं—उस बात की कहीं चर्चा मात्र भी नहीं है । दोनों भाइयों में पहले जिस प्रकार का भाव था, माने अब भी वह भाव वैसा ही बना है । सारे पत्र में केवल गहरे स्नेह और गहरे विषाद का भाव भरा है। स्नेह और विषाद में किसकी मात्रा अधिक है यह उन्हें स्पष्टरूप से प्रकट नहीं होता। इस प्रेम-विषाद से भरी हुई बातों से नक्षत्रराय के हृदय में भारी धक्का लगा। चिट्ठी पढ़ते पढ़ते उनके मन का भाव धीरे धीरे बदलने लगा । हृदय पर जो पत्थर का परदा पड़ा था

वह चूर चूर हो गया। उनके मुँह पर उदासी छा गई, हाथ काँपने लगे, साथ ही साथ चिट्ठी भी काँपने लगी। नक्षत्रराय ने कुछ देर उस चिट्ठी को माथे पर रक्खा, बार बार उसे पढ़ा। उस चिट्ठी में जो भाई का आशीर्वाद था सो मानो ठंडे झरने के जलप्रपात की तरह उनके सन्तप्त हृदय पर गिरने लगा। वे बड़ी देर तक क्षुब्ध होकर सायंकाल की लालिमा से सुशोभित दूरस्थ श्यामल वन भूमि की ओर एकटक दृष्टि से देखने लगे। चारों ओर शान्तिमयी संध्या निःशब्द शान्त समुद्र की तरह शोभायमान हो रही है। देखते ही देखते उनकी आँखें डबडबा आईं, और बड़े वेग से आँसू बह चले। नक्षत्रराय ने सहसा लज्जा और पश्चात्ताप से अधीर होकर दोनों हाथों से मुँह ढक लिया और रोकर कहा—"मैं यह राज्य नहीं चाहता। भाई जी मेरे सब अपराधों को क्षमा करके अपने चरणों के निकट शरण दें, मुझे अपने पास रहने दें, मुझे दूर न भगावें।"

बिल्वन कुछ न बोले। चुप चाप बैठे हुए स्निग्ध हृदय से और स्नेहभरी आँखों से उनका मुँह ताकते रहे। आख़िर जब नक्षत्रराय कुछ देर में प्रकृतिस्थ हुए तब बिल्वन ने कहा—गोविन्दमाणिक्य आपके इन्तज़ार में बैठे हैं, चल कर उनसे मिलिए। अब विलम्ब न कीजिए।

नक्षत्रराय ने कहा—"क्या वे मुझे क्षमा करेंगे?"

बिल्वन—"वे युवराज के ऊपर ज़रा भी नाराज़ नहीं हैं। अधिक रात बीतने से रास्ते में तकलीफ़ होगी। एक घोड़ा ले लिया जाय। पहाड़ के नीचे महाराज के आदमी आपको साथ ले चलने के लिए खड़े हैं।"

नक्षत्रराय—"मैं छिप कर जाऊँगा। सेनाओं पर यह बात ज़ाहिर होने न दूँगा। अब देर करने का प्रयोजन क्या। जहाँ तक जल्द यहाँ से निकल पड़ें उतना ही अच्छा है।"

बिल्वन—"बहुत ठीक।"

"मैं तीन-मूँड़ा पहाड़ पर संन्यासी के साथ शिवजी की पूजा करने जाता हूँ" यह कह कर नक्षत्रराय घोड़े पर चढ़ संन्यासी के साथ बिदा हुए। नौकर लोगों ने साथ जाना चाहा पर नक्षत्रराय ने उन्हें मना कर दिया।

अभी बाहर हुए ही थे कि इतने ही में घोड़ों की टाप और सेनाओं के आने की आहट सुनाई देने लगी। नक्षत्रराय बड़े ही लज्जित हुए। देखते ही देखते रघुपति सेनाओं के साथ आ पहुँचे। आते ही उन्होंने विस्मित होकर पूछा—"महाराज, कहाँ जा रहे हैं?" नक्षत्रराय कुछ जवाब नहीं दे सके।

नक्षत्रराय को चुप होते देख बिल्वन ने कहा—"महाराज गोविन्दमाणिक्य से मुलाकात करने जाते हैं।"

रघुपति ने बिल्वन को एक बार सिर से पैर तक देखा। भौंहें सिकोड़ीं। तदनन्तर अपने को सँभाल कर बोले—"आज ऐसे बेवक्त हम लोग अपने महाराज को जाने नहीं देंगे। इतना आतुर होने का प्रयोजन क्या। कल सबेरे ही चले जायँगे। महाराज की क्या इच्छा है?"

नक्षत्रराय ने धीरे से कहा—"हाँ, कल सबेरे ही जाऊँगा। आज अब रात हो गई।"

बिल्वन ठाकुर निराश होकर लौटे और उस रात को उन्हीं लोगों के साथ ख़ेमे में रहे। जब सबेरा हुआ तब नक्षत्रराय के पास जाना चाहा। पहरेदारों ने रोक दिया। उनके ख़ेमे के चारों ओर पहरा है। किसी तरफ़ से जाने का रास्ता नहीं। आख़िर रघुपति के पास जाकर कहा—"जाने का समय हो गया। युवराज को ख़बर दीजिए।"

रघुपति—"महाराज नहीं जायँगे। वे इसका निश्चय कर चुके हैं।"

बिल्वन—"मैं उनसे एक बार मिलना चाहता हूँ।"

रघुपति—"मुलाक़ात नहीं होगी। उन्होंने कहला भेजा है।"

बिल्वन—"महाराज गोविन्दमाणिक्य के पत्र का उत्तर मिलना चाहिए।"

रघुपति—"पत्र का उत्तर पहले एक बार दिया जा चुका है।"

बिल्वन—"मैं उनके मुँह से उत्तर सुनना चाहता हूँ"।

रघुपति—"इसका कोई उपाय नहीं है।"

बिल्वन ठाकुर समझ गये। समय बिताने और वाक्य-व्यय करने के सिवा कुछ फल न होगा। बिल्वन ठाकुर ने चलते वक्त रघुपति से कहा—"ब्राह्मण, क्या तुम सर्वनाश करना चाहते हो? यह ब्राह्मणों का काम नहीं है।"

छत्तीसवाँ परिच्छेद

बिल्वन ठाकुर जब नक्षत्रराय के ख़ेमे से लौट आये, तब उन्होंने देखा कि राजा ने बहुत कुछ धन देकर कूकी जाति की सेनाओं को बिदा कर दिया है। वे लोग लड़ाई में विलम्ब होते देख देश में जहाँ तहाँ उपद्रव करने लग गये थे। त्रिपुरा की सेनायें भी उनके आज्ञानुसार अपने अपने घर चली गईं। युद्ध की कोई तैयारी देखने में न आई। बिल्वन ने वहाँ का सब हाल राजा से कहा।

राजा ने कहा—"मैं अब बिदा होता हूँ। नक्षत्र के लिए राज्य और धन छोड़े जाता हूँ।"

बिल्वन—"तुम असहाय प्रजा-गणों को दूसरे के हाथ में फेंक कर भागना चाहते हो। इस तरह भाग कर जाने की सलाह मैं प्रसन्न-मन से कभी नहीं दे सकता। माता अपने पुत्र को सौत के हाथ में सौंप कर निश्चिन्त होना चाहे, यह कभी सम्भव है ?

राजा—"तुम्हारी बात मेरे हृदय में चुभ जाती है। क्षमा करो। मुझे अब और कुछ न कहो। मुझको अपने सिद्धान्त से विचलित करने का प्रयत्न न करो। तुम जानते हो, मैंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं रक्तपात न करूँगा। मैं उस प्रतिज्ञा को भङ्ग नहीं कर सकता।"

बिल्वन—"तो महाराज अब क्या करना चाहते हैं ?"

राजा—"सुनो, मैं तुम्हें सब कह सुनाता हूँ। मैं ध्रुव को साथ लेकर जंगल में जाऊँगा। मेरा जीवन बिलकुल अधूरा रहा। मैंने जो सब काम करने को मन में ठाना था अभी तक कुछ न कर सका। ज़िन्दगी का जितना हिस्सा गुजर गया है वह किसी प्रकार लौट नहीं सकता। मैं समझता हूँ, अदृष्ट ने हम लोगों को तीर की तरह फेंका है। यदि एक बार भी लक्ष्य-भ्रष्ट हुए तो फिर हज़ार उपाय करने पर भी लक्ष्य की ओर नहीं लौट सकते। बस, जीवन के प्रारम्भ काल में मैं जो लक्ष्य-भ्रष्ट हुआ, इस कारण जीवन का लक्ष्य

अब ढूँढ़े भी मुझे नहीं मिलता। जिस समय जाग कर मैं अपनी रक्षा कर सकता था उस समय मैं अचेत पड़ा था। अब डूबने पर होश हुआ है। समुद्र में गिरजाने पर लोग जिस तरह लकड़ी का सहारा लेते हैं, उसी तरह मैं बालक ध्रुव का सहारा लेना चाहता हूँ। ध्रुव की सहायता से ही मैं किनारे लगूँगा। मैं पहले ही से उसे मनुष्य बनाने की चेष्टा करूँगा और उसी के साथ अपना भी सुधार करके मनुष्य-जन्म को सार्थक करूँगा। परमहंसजी, मैं अभी तक मनुष्य कहलाने योग्य भी नहीं हूँ, राजा होकर क्या करूँगा।"

राजा ने अन्तिम वाक्य बड़े ही आवेग के साथ कहा जिसे सुन कर ध्रुव ने राजा के घुटने पर अपना माथा रगड़ कर कहा—"मैं लाजा।"

बिल्वन ठाकुर ने हँस कर ध्रुव को अपनी गोद में बैठा लिया। बड़ी देर तक उसके मुँह की ओर देख कर राजा से कहा—"वन में क्या कभी मनुष्य मनुष्यत्वलाभ कर सकता है? वन में केवल एक मात्र पौदे ही पालन के द्वारा तरक्की पा सकते हैं। मनुष्य मनुष्य के ही समाज में रह कर सुधर सकता है।

राजा ने कहा—"मैं जंगल में सिर्फ़ इसीलिए जाता हूँ कि जनसमाज से कुछ अलग रहूँ। जनसमाज से सर्वथा

सम्बन्ध त्याग न करूँगा। यह नियम भी थोड़े ही दिनों के लिए समझो।"

इधर नक्षत्रराय सेनासहित राजधानी के समीप आ पहुँचे। प्रजाओं के अन्नधन लूटे जाने लगे। प्रजागण इस तरह सताये जाने पर गोविन्दमाणिक्य को ही कोसने लगे। उन लोगों ने कहा—"ये सब उपद्रव सिर्फ़ राजा के पाप से होते हैं।" राजा ने एक बार रघुपति को बुला कर भेंट करना चाहा। रघुपति आये। राजा ने कहा—"प्रजाओं को व्यर्थ क्यों सताते हो, मैं नक्षत्रराय के लिए राज्य छोड़ कर जाता हूँ। मुग़ल सेनाओं को बिदा कर दो।"

रघुपति ने कहा—"जो आपकी आज्ञा, आप जिस वक़्त राजधानी छोड़ कर बिदा होंगे उसी वक़्त मैं मुग़ल-सेना को बिदा कर दूँगा। मैं त्रिपुरा को लूटना नहीं चाहता।"

राजा ने उसी दिन राजधानी छोड़ कर अन्यत्र जाने का उद्योग किया; अपने राजकीय वेष को बदल डाला, गेरुआँ वस्त्र धारण कर लिया। नक्षत्रराय को एक बहुत बड़ा आशीर्वाद पत्र लिखा। राजाओं के कर्तव्य की बहुत सी बातें लिखीं। पीछे ध्रुव को गोद में बैठा कर पूछा—"ध्रुव, मेरे साथ वन चलोगे?

ध्रुव ने तुरंत राजा के गले से लिपट कर कहा—"हाँ, चलूँगा।"

उसी वक्त. राजा को एकाएक स्मरण हो आया कि ध्रुव को अपने साथ ले जाने के विषय में उसके चचा केदारेश्वर से पूछ लेना आवश्यक है । राजा ने केदारेश्वर को बुला कर कहा—"तुम्हारी सम्मति हो तो मैं ध्रुव को अपने साथ ले जाऊँ।"

ध्रुव दिन रात राजा के ही पास रहता था । उसको अपने चचा के साथ कुछ ज़ियादा मेल जोल न था। इस कारण राजा के मन में इस बात की सम्भावना न थी कि ध्रुव को उनके साथ जाने में केदारेश्वर को कोई उज़्र होगा। राजा की बात सुन कर केदारेश्वर ने कहा—"महाराज, मैं इसकी सम्मति कैसे दूँ ।"

यह सुन कर राजा के होश उड़ गये । मानो एकाएक उन पर वज्र गिरा । वे कुछ देर चुप रह कर बोले—केदारेश्वर तुम भी मेरे साथ चलो ।"

केदारेश्वर—"नहीं महाराज, जंगल में जाकर रहना मुझे पसन्द नहीं ।"

राजा ने अधीर होकर कहा—"मैं जंगल में नहीं रहूँगा । मैं धन लेकर नौकरों के साथ बस्ती में ही रहूँगा ।"

केदारेश्वर—"मैं देश छोड़ कर अन्यत्र न जाऊँगा ।"

राजा ने उसे अब और कुछ कहना उचित न समझ ज़ोर से साँस ली। उनकी सारी आशा मिट्टी में मिल गई। एकही पल में मानो उनके लिए सारी धरती उलट गई।

ध्रुव पास ही प्रसन्नतापूर्वक खेल रहा था। राजा बड़ी देर तक उसकी ओर देखते रहे। मानो उसे आँख भर कर देखही नहीं पाया।

ध्रुव ने उनको अपनी ओर खींच कर कहा—"तुम भी मेले छाथ खेलो।" राजा का सम्पूर्ण हृदय पसीज कर, मानो आँसू होकर आँखों में भर आया। उन्होंने बड़े कष्ट से आँसू रोके। फिर वे टूटे दिल से बोले—"अच्छा, ध्रुव यहीं रहे, मैं अकेला जाऊँगा।" जीवन के अवशिष्ट भाग का एक बड़ा लम्बा कण्टकाकीर्ण मार्ग मानो एक ही पल में बिजली की तरह उनकी आँखों में समा गया।

केदारेश्वर ने ध्रुव का खेल बिगाड़ कर कहा—"चल, मेरे साथ चल।" यह कह कर उसका हाथ पकड़ कर खींचा।

ध्रुव ने रोते रोते कहा—"नहीं।" राजा ने चौंक कर ध्रुव की ओर मुँह फिरा कर देखा। ध्रुव दौड़ कर आया और राजा से लिपट कर उसने जल्दी जल्दी उनके घुटनों के बीच अपना मुँह छिपा लिया। राजा ने ध्रुव को गोद में उठा लिया, उसे छाती से लगाया। उनका विशाल हृदय फटना चाहता

था परन्तु छोटे से ध्रुव को छाती में दबा कर हृदय को ठंडा किया। वे उसी तरह ध्रुव को छाती में लगाये कमरे में इधर उधर घूमने लगे। ध्रुव उनके कन्धे पर माथा रख कर बड़े शान्तभाव से पड़ रहा। यात्रा का समय आ गया। ध्रुव राजा की गोद में सोया हुआ है। राजा ने निद्रित ध्रुव को धीरे धीरे अपनी गोद से केदारेश्वर के हाथ में देकर यात्रा की।

सैंतीसवाँ परिच्छेद

नक्षत्रराय ने सेनाओं को साथ लेकर पूरब दरवाज़े से क़िले के भीतर प्रवेश किया। इधर गोविन्दमाणिक्य कुछ धन और इने गिने नौकरों को साथ लेकर पश्चिम द्वार से क़िले के बाहर हो गये। शहर के लोग शंखध्वनि के साथ भाँति भाँति के बाजे बजाते, जय जयकार करते हुए नक्षत्रराय को कुछ दूर आगे से लाकर हर्ष प्रकट करने लगे। गोविन्दमाणिक्य जिधर से घोड़े पर चढ़े चले जा रहे थे, उधर उनका सम्मान करना किसी ने आवश्यक न समझा, बरन् सड़क के प्रान्तवर्ती घरों से स्त्रियाँ बाहर निकल निकल कर उन्हें गालियाँ देने लगीं। वे सब समझती थीं कि इन्हीं के पाप से उनके घर में अन्न नहीं। इन्हीं के पाप से उनके बालबच्चे भूखों मर रहे हैं। जिन दीन बुढ़ियाओं को उस

भयङ्कर दुर्भिक्ष के समय राजा के यहाँ से रोज़ रोज़ भोजन मिलता था और स्वयं राजा जिन्हें धीरज दिया करते थे, वे अपने दोनों दुबले हाथों को उठा उठा कर राजा को कोसने लगीं। लड़के माँ से सिखलाये जाने पर ताली बजाते हुए राजा के पीछे पीछे चले। राजा इन सब बातों पर ध्यान न देकर बराबर आगे की ओर देखते हुए धीरे धीरे चलने लगे। एक किसान अपने खेत से आ रहा था। उसने राजा को देख कर बड़ी भावभक्ति से उन्हें प्रणाम किया। राजा का हृदय द्रवित हो गया। वे घोड़े की बाग रोक कर खड़े हुए और बोले—"भाई, मुझे अब यहाँ से आगे बढ़ने की सलाह दो।" राजा की इस अवस्था पर उसे बड़ा ही दुःख हुआ। उनके सन्तानवत् सब प्रजाओं में से इसी एक किसान ने चलते वक़्त उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और बड़े ही उदास मुँह से उन्हें बिदा किया। राजा के पीछे झुंड के झुंड लड़के सब तालियाँ बजा कर हँसी उड़ा रहे थे। यह देख कर उस किसान ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर उन लड़कों को भगा दिया। राजा ने उसे मना किया। आख़िर सड़क के जिस भाग में केदारेश्वर का घर था राजा उसी ओर आ गये। राजा ने घूम कर दक्खिन ओर देखा कि सबेरा हो गया है। जाड़े का समय है। चारों ओर कुहरा छाया हुआ है। सूर्य्य की किरणें कुहरा को फाड़ कर अब बाहर निकल पड़ी हैं। केदारेश्वर

के घर की ओर देख कर राजा को पारसाल के आषाढ़ महीने का वह सबेरा याद आ गया। तब वर्षा का समय था, पानी बरसने का दिन था। द्वितीया के कृशचन्द्र के सदृश वह बालिका (हासी) बेहोश होकर बिछौने के एक प्रान्त में दब कर सो रही है। बच्चा ध्रुव उसकी हालत को कुछ न समझ, उसके आँचल का छोर मुँह में डाल कर कभी उसके मुँह की ओर देखता है और कभी अपने छोटे मोटे गोल गोल हाथ से धीरे धीरे उसके मुँह को थप-थपाता है। राजा को एक एक करके वे सब पुरानी बातें याद आ गईं। मानो आज का सबेरा आषाढ़ के उस मेघाच्छन्न प्रातःकाल में छिपा था। क्या राजा के मन में यह भावना हुई कि जो अदृष्ट आज उन्हें राजच्युत और अपमानित करके घर से निकाल कर बाहर लिये जा रहा है, वही अदृष्ट इस छोटे घर के द्वार पर उस आषाढ़ के सबेरे के पहर उनकी बाट देख रहा था। इसी जगह उस अदृष्ट के साथ इनकी पहली मुलाक़ात हुई थी। राजा अन्यमनस्क होकर इस घर के सामने कुछ देर ठहर गये। उस वक़्त वहाँ उनके नौकरों के सिवा और कोई आदमी न था। लड़के जो पीछे पीछे आ रहे थे, उन्हें उस किसान ने भगा दिया है। किन्तु किसान को दूर गया देख कर वे लड़के फिर पहुँच गये। उनकी चिल्लाहट से राजा सावधान होकर और एक गहरी साँस लेकर धीरे धीरे चलने लगे।

एकाएक उन लड़कों के शोर .गुल में एक सुमधुर परिचित स्वर उनके कानों में आकर प्रविष्ट हुआ। उन्होंने देखा कि ध्रुव दोनों हाथों को ऊपर उठाये हँसते हँसते उनके पास दौड़ा आ रहा है। केदारेश्वर घर पर नहीं है, वह नये राजा के निकट अपनी भक्ति दिखलाने गया है। घर में सिर्फ़ एक बूढ़ी दासी थी। गोविन्दमाणिक्य झट घोड़े से उतर पड़े, ध्रुव ने उनके कपड़े का दामन पकड़ कर उनके घुटनों के बीच मुँह छिपाया और अपने प्रथम आनन्द के उफान को शान्त करके राजा से कहा—"मैं घोले पर चढ़ूँगा।" राजा ने उसको घोड़े पर चढ़ा दिया। घोड़े पर चढ़ कर वह राजा के गले से लिपट गया। ध्रुव राजा के स्वभाव में एक विलक्षण उलट फेर देख कर वह मनही मन कुछ सोचने लगा। गाढ़ी नींद से जगाने के हेतु लोग जैसे भाँति भाँति के कौशल करते हैं। ध्रुव ने तैसेही राजा को अपनी ओर खींच कर, उनसे लिपट कर और उनके गाल पर अपना गाल रख कर उनके भाव को पहले के रूप में ले आना चाहा। अन्त में विफल-प्रयत्न होकर वह अपने मुँह में अँगुली डाल कर चुप हो रहा। राजा ने ध्रुव के हृदय का भाव समझ कर बार बार उसका मुँह चूमा। आखिर विवश होकर राजा ने कहा—"ध्रुव, मैं अब जाता हूँ।" ध्रुव ने राजा के मुँह की ओर देख कर कहा—'मैं भी जाऊँगा।"

राजा—"तुम कहाँ जाओगे। अपने मुरब्बी के पास रहो।"

ध्रुव—"नहीं, मैं तो तुम्हारे साथ जाऊँगा।"

उसी वक़्त वह बुढ़िया घर से निकल कर बड़-बड़ाती हुई वहाँ आ पहुँची। वह ज़ोर से ध्रुव का हाथ पकड़ कर और उसे खींच कर बोली—"चल यहाँ से।"

ध्रुव डर गया, वह दोनों हाथों से राजा को पकड़ कर उनके बदन से लिपट गया और उसने अपना मुँह उनकी छाती के पास छिपा रक्खा। राजा अधीर होकर मनही मन सोचने लगे—हृदय की प्राण-रक्षक नाड़ियाँ भले ही तोड़ी जा सकती हैं किन्तु इन दोनों हाथों का बन्धन कैसे तोड़ा जा सकता है? आज इसे भी तोड़ना पड़ा। राजा ने धीरे धीरे ध्रुव के दोनों हाथ छुड़ा कर बलपूर्वक उसे दासी के हाथ में दे दिया। ध्रुव रोने लगा और हाथ उठा कर बार बार कहने लगा—"मैं जाऊँगा।" राजा ने अब पीछे की ओर न देख कर झट घोड़े पर सवार होकर ख़ूब ज़ोर से घोड़े को दौड़ा दिया। वे जितनी दूर आगे बढ़ते हैं मानो ध्रुव के रोने का शब्द उन्हें सुन पड़ता है और ध्रुव अपने दोनों हाथों को उठा कर मानो उन्हें पुकार कर कह रहा है—"मैं जाऊँगा।" राजा की आँखों से आँसू गिरने लगे। उन्हें बाट घाट अब कुछ नहीं सूझता। मानो सूर्य का प्रकाश और

सारा संसार उनके अश्रुजल में डूब गया। घोड़ा अपने मन से जाने लगा।

रास्ते में कहीं मुग़ल की एक दल-सेना आ रही थी। वह राजा को लक्ष्य करके हँसने लगी, यहाँ तक कि अपने नौकरों के साथ उनका उत्कट उपहास करने लगी। राजा के एक सभासद, उसी रास्ते से घोड़े पर चढ़े कहीं जा रहे थे। वे इस दृश्य को देख कर राजा के पास दौड़े आये और उन्होंने राजा से कहा—"महाराज, यह अपमान तो मुझ से सहा नहीं जाता। महाराज की दीन दशा देख कर ये लोग ढिठाई करने लग गये हैं। अच्छा, आप मेरी यह तलवार लें, और यह पगड़ी लें। महाराज कुछ देर यहाँ ठहरने की कृपा करें, मैं अपने लोगों को अभी लाकर इन नराधमों को शिक्षा देता हूँ।"

राजा ने कहा—"नहीं नयनराय, मुझे तलवार और पगड़ी की कुछ ज़रूरत नहीं। ये लोग मेरा क्या करेंगे। मैं अब इस की अपेक्षा और भी अधिक अपमान सहने को तैयार हूँ। मैं हाथ में खुली तलवार लेकर अब इन संसारी मनुष्यों से आदर पाना नहीं चाहता। संसार के सर्वसाधारण लोग जैसे भले बुरे वक्त़ में मान-अपमान, सुख-दुःख सहा करते हैं, मैं भी, जगदीश्वर के भरोसे, वैसे ही सहूँगा। देखो नयनराय, भाई बन्धु मेरे साथ शत्रुता कर रहे हैं, आश्रितगण कृतघ्नता

कर रहे हैं और जो लोग सिर नवाते थे वे अब पलक उठा कर मेरी ओर देखते तक नहीं। किसी समय ये सब बातें मेरे लिए असह्य होतीं। किन्तु इस समय इन सबों के सहन करने ही में मुझे सुख मिलता है। जो लोग मेरे हितैषी हैं उन्हें भी मैं जानता हूँ। जाओ नयनराय, तुम लौट जाओ। नक्षत्रराय को सम्मानपूर्वक आगे से ले आओ। जिस तरह तुम मेरा सम्मान करते थे उसी तरह नक्षत्र का भी सम्मान करोगे। तुम लोग सब मिल कर नक्षत्र को अच्छे रास्ते से चलाओगे। और उन्हें प्रजागणों की भलाई का ध्यान दिला कर प्रजाओं की रक्षा करोगे। तुम लोगों से बिदा होने के समय यही मेरी अन्तिम प्रार्थना है। तुम लोग भ्रम से भी कभी मेरी बातें छोड़ कर अथवा मेरे साथ उनकी बराबरी करके उनकी शिकायत न करोगे। अच्छा तो मैं अब चलता हूँ।" यह कह कर राजा उस सभासद् के साथ अङ्कमालिका का व्यवहार करके अग्रसर हुए। सभासद् भी उन्हें प्रणाम करके आँसू पोंछते हुए चले गये।

जब राजा गोमती नदी के ऊँचे कछार के निकट जा पहुँचे तब बिल्वन ठाकुर ने जंगल से बाहर निकल कर उनके सामने आकर और अँजुली उठा कर कहा—"जय हो।" राजा ने घोड़े से उतर कर उन्हें प्रणाम किया। बिल्वन ठाकुर ने कहा—"मैं आपसे बिदा माँगने आया हूँ।"

राजा ने कहा—"क्यों, आप नक्षत्र के पास रह कर उन्हें अच्छी अच्छी सलाह दें और राज्य का हित साधन करें।"

बिल्वन ने कहा—"नहीं, जहाँ आप राजा नहीं, वहाँ मैं कुछ करने योग्य नहीं। यहाँ रह कर मैं अब कोई काम न कर सकूँगा।"

राजा ने कहा—"तो अन्यत्र कहाँ जायँगे। तब मेरे ही ऊपर दया कीजिए। आपको देखते ही मेरे दुर्बल हृदय में बल हो आता है।"

बिल्वन—"मेरा प्रयोजन कहाँ है—यही मैं ढूढ़ने चला हूँ। मैं आपके पास रहूँ चाहे दूर रहूँ, आपके ऊपर मेरा प्रेम ज्यों का त्यों बना रहेगा। आप इसे निश्चय करके मानें। आपके साथ वन में जा कर मैं किसी का क्या उपकार करूँगा?"

राजा ने कोमल स्वर में कहा—"तो मुझे आगे बढ़ने की आज्ञा दीजिए।" यह कह कर राजा ने फिर उन्हें प्रणाम किया। दोनों ने अपनी अपनी राह ली।

अड़तीसवाँ परिच्छेद

नक्षत्रराय अपना नाम छत्रमाणिक्य रख कर बड़े समारोह के साथ राजसिंहासन पर बैठ गये। ख़ज़ाने में रुपये अधिक

नहीं थे, इस कारण जहाँ तक मिल सका, प्रजाओं का सर्वस्व हरण करके प्रतिज्ञात धन मुग़ल सैनिकों को देकर उन्हें बिदा किया। छत्रमाणिक्य अत्यन्त दुस्सह दारुण दुर्भिक्ष और दरिद्रता लेकर राज्यशासन करने लगे। चारों ओर से प्रजाओं के रोने, कलपने और कोसने की बातें सुनाई देने लगीं।

जिस आसन पर गोविन्दमाणिक्य बैठते थे, जिस पलङ्ग पर वे सोते थे, जो लोग उनके प्रियपात्र थे, वे सब चुप ही चुप मानो छत्रमाणिक्य का अपमान करने लगे। गोविन्दमाणिक्य की सभी चीज़ें उनकी आँखों में खटकने लगीं। उन्होंने धीरे धीरे अपनी आँखों के सामने से उन चीज़ों को हटाना शुरू किया। गोविन्दमाणिक्य के व्यवहार की जितनी वस्तुएँ थीं, उन्होंने सबको नष्ट कर डाला। गोविन्दमाणिक्य के जो सब प्रिय नौकर थे, छत्रमाणिक्य ने उन सबोंको निकाल बाहर किया। गोविन्दमाणिक्य के नाम का गन्ध तक भी अब वे सहन नहीं कर सकते थे। गोविन्दमाणिक्य का ज़िक्र होते ही उनके कान खड़े हो जाते थे। वे समझते थे कि उन्हीं को लक्ष्य करके सभासदगण गोविन्दमाणिक्य की चर्चा चला रहे हैं। वे मन ही मन हमेशा सोचा करते थे कि सब लोग उन्हें राजा मान कर पूर्णरूप से सम्मान नहीं करते। इस कारण वे जब तब लोगों से बेसबब बिगड़ बैठते थे। उनके इस अकारण क्रोध से डर कर सभासद् कुछ बोलने का

साहस नहीं करते थे। सभी को भयभीत होकर रहना पड़ता था। छत्रमाणिक्य राज काज कुछ नहीं समझते थे। जब कोई उन्हें अच्छी सलाह देने आता था तब वे झट बोल उठते थे—क्या मैं इतना भी नहीं समझता हूँ? क्या तुमने मुझे बिलकुल बेवक़ूफ़ ही समझ रक्खा है?'' सलाह देनेवाला अपना सा मुँह ले करके चला जाता था। छत्रमाणिक्य मन ही मन समझते थे कि सब लोग उन्हें राजगद्दी के अयोग्य और राज्यापहारी समझ कर उनकी उपेक्षा कर रहे हैं। इससे चिढ़ कर वे बलपूर्वक बहुत बड़े राजा हो उठे। वे यथेच्छ काम करके सब जगह अपने एकाधिपत्य की घोषणा करने लगे। उनके जी में जब जो आता था करते थे, जिसको रखना चाहते थे, रखते थे, जिसे मारना चाहते थे मारते थे। इस बात को विशेषरूप से प्रमाणित करने के लिए जिसको रखना उचित नहीं उसे रखते थे, और जिसको मारना उचित नहीं उसे मारते थे। किस अपराध में क्या दण्ड देना चाहिए इसका ज्ञान उन्हें न था इस कारण छोटे छोटे अपराध में वे भारी दण्ड दे बैठते थे और जिसे भारी दण्ड देना चाहिए उसे बेक़सूर साबित करके छोड़ देते थे। उनके इस अनुचित विचार से सभी लोग दुःखी थे। प्रजागण दुर्भिक्ष के कारण भूकों मर रहे हैं किन्तु छत्रमाणिक्य को नित्य नये नये उत्सव, कभी उसकी समाप्ति नहीं। रोज़ रोज़ नाच, गान और भोज्य

का आडम्बर। राज्य का बिलकुल काम नौकरों ही पर निर्भर कर आप दिन रात जलसे पार्टी की तैयारी में ही लगे रहते थे। इसके पहले आज तक किसी राजा ने सिंहासन पर बैठ कर इस प्रकार राजत्व की बिलकुल पूँछ पसार कर मयूर की तरह अपूर्व नृत्य नहीं किया था।

प्रजा चारों ओर से अप्रसन्नता प्रकट करने लगी। छत्रमाणिक्य उससे और भी अधिक जल उठे। उन्होंने समझा कि यह सब केवल राजा के ऊपर अभक्ति दिखलाना है। उन्होंने अप्रसन्नता का दुगुना सबब खड़ा करके ज़बरदस्ती प्रजाओं को अनेक प्रकार के कष्ट दे देकर और डर दिखला दिखला कर उनके मुँह बन्द कर दिये। सारा राज्य घोर निस्तब्ध रात की तरह शब्द रहित हो गया। वे शान्त स्वभाव नक्षत्रराय छत्रमाणिक्य होकर जो सहसा इस प्रकार का व्यवहार करेंगे यह आश्चर्य की कोई बात नहीं। ऐसे दुर्बल हृदय के मनुष्य प्रभुता पाकर इसी प्रकार उद्धत और यथेच्छाचारी हो उठते हैं। अनेक बार ऐसे दुर्बल हृदय राजाओं के दुराचार से प्रजा कष्ट पाती है।

रघुपति का उद्देश सफल हुआ। उनके हृदय में बदला चुकाने की जो बुरी वासना रहती थी वह अब नहीं है। जिस काम में उन्होंने हाथ डाला था उसे पूरा करके छोड़ा, अतएव प्रतिहिंसा का भाव धीरे धीरे उनके मन से दूर हो

गया। वे अनेक कपट-कौशल से सभी विघ्न-बाधाओं को झेलते हुए एकही साधन में प्रवृत्त होकर मन ही मन लड्डू खा रहे थे। आख़िर उनका वही उद्देश सिद्ध हो गया। बस, इससे बढ़ कर संसार में उनके लिए अब और दूसरा कोई सुख नहीं है।

रघुपति ने अपने मन्दिर में जाकर देखा कि वहाँ कोई नहीं। यद्यपि रघुपति भली भाँति जानते थे कि जयसिंह नहीं है तथापि उन्होंने अभी नया करके जाना कि जयसिंह नहीं है। मानो दो एक बार उनके मन में हो आया कि "है।" इसके बाद फिर स्मरण हो आया कि "नहीं है।" एकाएक हवा लगने से किवाड़ खुल गये। उन्होंने चौंक कर पीछे की ओर घूम कर देखा—जयसिंह तो नहीं आया? उनके मन में होने लगा कि जिस घर में जयसिंह रहता था शायद वह उस घर में हो। वे बड़ी देर तक यही सोचते रहे। डर के मारे उस घर में न जा सके। आख़िर उन्होंने डरते डरते उस घर के पीछे की ओर जाकर देखा, जयसिंह वहाँ नहीं है।" रघुपति साँझ होते देख साहस करके धीरे धीरे जयसिंह के घर में गये। समाधि घर की तरह वह घर सूना पड़ा है। घर में एक तरफ़ एक काठ का सन्दूक़ है। उस सन्दूक़ के नीचे जयसिंह की खड़ाऊँ धूल से भरी पड़ी हैं। दीवार में जयसिंह के हाथ की लिखी काली की मूर्त्ति है। घर के पूरब

कोन में एक धातु-निर्म्मित चिराग़दान पर धातु का ही दिया रक्खा है। बरसों से वह योंही पड़ा है। किसी ने उसे जलाया तक नहीं। मकड़ी के जाले से वह ढका हुआ है। चिराग़दान के पास दीवार में काला दाग़ पड़ा हुआ है। घर में इन सब चीज़ों के सिवा और कुछ नहीं है। रघुपति ने ख़ूब ज़ोर से साँस ली। वह साँस सारे घर में प्रतिध्वनित हो उठी। अँधेरा हो जाने से अब कुछ दिखाई नहीं देता। एक छिपकली ठहर ठहर कर टिक् टिक् शब्द करने लगी। खुले हुए दरवाज़े से घर के भीतर ठंडी ठंडी हवा आने लगी। रघुपति सन्दूक़ के ऊपर बैठ कर काँपने लगे।

रघुपति ने इस शून्य मन्दिर में इसी तरह एक महीना बिताया। किन्तु इस प्रकार वे और अधिक दिन नहीं बिता सके। उन्होंने पुरोहिती छोड़ ही दी है। उन्होंने एक दिन राजसभा में जाकर राज्यशासन के कामों में दस्तन्दाज़ी की, देखा कि अविचार, अत्याचार और अशान्ति ये तीनों छत्र-माणिक्य नाम धारण करके राज्य कर रहे हैं। वे राज्य में शान्तिस्थापन का प्रयत्न करने लगे। छत्रमाणिक्य को सलाह देने गये। छत्रमाणिक्य बोल उठे—"रघुपति तुम राजकाज का हाल क्या जानने गये, इन सब बातों को तुम क्या समझोगे? रघुपति राजा की प्रचण्डता देख कर अवाक् हो हो गये। उन्होंने देखा कि अब वे नक्षत्रराय नहीं हैं।

रघुपति के ऊपर राजा की अप्रसन्नता क्रमशः बढ़ने लगी। छत्रमाणिक्य यह समझ कर कि रघुपति सिर्फ़ अपने मन में यही सोचता होगा कि उसी ने मुझे राजा बनाया है, बहुत चिढ़े। रघुपति को देखते ही वे भौंहें सिकोड़ते थे। आख़िर एक दिन उन्होंने साफ़ साफ़ कह दिया कि—"पुरोहित जी, तुम अपने मन्दिर का काम जाकर देखो, राजसभा में तुम्हारा कोई काम नहीं।" रघुपति ने अङ्गार की सी तीव्र दृष्टि से छत्रमाणिक्य की ओर देखा। छत्रमाणिक्य मुँह फेर कर वहाँ से चले गये।

उनतालीसवाँ परिच्छेद

नक्षत्रराय ने जिस दिन राजधानी में प्रवेश किया, केदारेश्वर उसी दिन उनके पास हाज़िरी देने गया। परन्तु वह बहुत उद्योग करने पर भी उनके सामने नहीं जा सका। पहरेदारों से धक्का खाते खाते उसका नाक में दम आ गया। आख़िर वह जान लेकर वहाँ से भागा। गोविन्दमाणिक्य के राजत्व-काल में वह यथेष्ट षट्रस भोजन से परितृप्त होकर राजभवन में आनन्दपूर्वक रहा करता था। उन दिनों युवराज नक्षत्रराय के साथ उसका बड़ा ही मेल था। इधर कुछ दिनों से राजभवन का सम्बन्ध छुट जाने से उसे अब अपना

जीवन-निर्वाह करना कठिन हो गया है। जब वह गोविन्द-माणिक्य के पाणिपल्लव की छाया में था तब सब लोग उस से डरते और उसकी इ.ज्ज़त करते थे। लेकिन अब उसे कोई नहीं पूछता। पहले जब किसी को राजा से कुछ काम आ पड़ता था तब लोग उसके पास आकर उसकी .खुशामद करते थे। अब उससे कोई बात तक नहीं करता, उसकी ओर कोई नज़र उठा कर देखता तक नहीं। इन अपमानों के साथ ही साथ फिर भोजन का भी कष्ट होने लगा। वह चाहता है, किसी तरह फिर उसका राजभवन में प्रवेश हो। राजभवन के सम्बन्ध से फिर उसे पूर्ववत् आराम मिलेगा।

वह एक दिन यथावसर कुछ भेंट लेकर आम दरबार में छत्रमाणिक्य से मिलने गया। वह अपनी बेहद .खुशी ज़ाहिर करते हुए और हँसते हुए बड़ी उमङ्ग के साथ राजा के सामने आकर खड़ा हुआ। राजा उसको देखते ही जल उठे। बोले—"यह हँसी कैसी? तुम मेरे साथ दिल्लगी करने आये हो?"

सभा में जितने लोग बैठे थे सभी ने उसे ललकारा। उसी घड़ी केदारेश्वर की विकसित दन्तपंक्ति पर यवनिका-पात हुआ। उसने अपना मुँह बन्द कर लिया।

छत्रमाणिक्य ने कहा—"तुमको जो कुछ कहना है सो शीघ्र कह कर चले जाओ।"

केदारेश्वर को जो कहना था सो बिलकुल भूल गया। उसने कई दिनों से जो कुछ कहने को सोच रक्खा था वह उसके पेट में ही रह गया। जब राजा ने फिर उससे कहा—"अगर तुझे कुछ कहना नहीं है तो यहाँ से चला जा।" तब केदारेश्वर ने झटपट कुछ कहना आवश्यक समझा। वह आँखों में, मुँह में, और कण्ठस्वर में सहसा पूर्णरूप से करुणारस भर कर बोला—"महाराज, क्या आप ध्रुव को भूल गये?"

छत्रमाणिक्य यह सुनते ही मारे क्रोध के आग-बबूला हो उठे। मूर्ख केदारेश्वर ने उनका भाव न समझ कर फिर कहा—"वह महाराज को काका, काका, कह कर अब भी रोया करता है।"

छत्रमाणिक्य ने कहा—"तुम्हारी शेख़ी तो कुछ कही नहीं जाती। तुम्हारा भतीजा मुझे काका कहता है? तुमने उसे यही शिक्षा दी है?"

केदारेश्वर भयभीत हो हाथ जोड़ कर बोला—"महाराज"

छत्रमाणिक्य ने कहा—"कोई है? इसको और उस लड़के को अभी मेरे राज्य से निकाल कर बाहर कर दो।"

एकाएक केदारेश्वर के गले पर पहरेदारों के इतने हाथ आ पड़े कि वह तीर की तरह एक दम बाहर जा गिरा। पहरेदारों ने उसके हाथ से उपहार का डाला लेकर आपस

में बाँट लिया। केदारेश्वर ध्रुव को लेकर उसी घड़ी त्रिपुरा से विदा हुए।

चालीसवाँ परिच्छेद

रघुपति फिर मन्दिर में लौट आये। उन्होंने आकर देखा कि अब कोई प्रेमपरिपूर्ण हृदय से कपड़े इत्यादि लेकर उनकी अपेक्षा नहीं करता। पत्थर का मन्दिर खड़ा है। उसके अन्दर कहीं चैतन्य का गन्धमात्र नहीं। वे गोमती नदी के किनारे सफ़ेद पत्थर की सीढ़ी पर जा बैठे। सीढ़ी के वाम भाग में जयसिंह के हाथ के रोपे हरसिंगार के पेड़ में असंख्य फूल फूले हैं। इन फूलों को देख कर उन्हें जयसिंह का सुन्दर मुँह, स्वच्छ हृदय, और कौटिल्यरहित जीवन याद आने लगा। सिंह के सदृश प्रबल पराक्रमी तथा हिरन के बच्चे के सदृश भीरू जयसिंह का ध्यान रघुपति के हृदय में हो आया। जयसिंह ने रघुपति के सारे हृदय पर अपना अधिकार जमा लिया। इसके पहले वे जयसिंह की अपेक्षा अपने को विशेष ज्ञानी करके समझते थे। अब वे अपनी अपेक्षा जयसिंह को ही बहुत विज्ञ मानने लगे। उनके ऊपर जो जयसिंह की निश्छल भक्ति थी, उसका स्मरण करके जयसिंह पर उन्हें अत्यधिक श्रद्धा का उदय हुआ, और अपने ऊपर अश्रद्धा

उत्पन्न हुई! जयसिंह के साथ उन्होंने जो अनेक अशिष्ट व्यवहार किये थे उन्हें याद करके उनका कलेजा फटने लगा। उन्होंने मन ही मन कहा—"हाय! किस योग्यता से मैंने जयसिंह का अपमान किया? मैं उस योग्य कदापि नहीं कि जयसिंह का अपमान करूँ।"

यदि जयसिंह क्षणमात्र के लिए एक बार दिखाई देते तो मैं अपना दोष स्वीकार करके उनसे क्षमा माँगता। जयसिंह की सभी बातें उन्हें याद आने लगीं। जयसिंह का सारा जीवन उनके हृदय में विराजने लगा। वे जयसिंह के उदार चरित्र की भावना करते हुए विदेह भाव धारण कर सारे झगड़े टंटे भूल गये। संसार का एक बड़ा बोझ जो उनके माथे चढ़ा था और जो उन्हे दिन रात दबा रहा था मानो उनके माथे से अब अलग जा गिरा। जिस नक्षत्रराय को उन्होंने राजा बना दिया है और जो नक्षत्रराय राजा होकर आज उन्हीं का अपमान कर रहा है—इसे याद करके उनके मन में अब ज़रा भी क्रोध उत्पन्न नहीं होता। अब वे मान-अपमान को बराबर समझते हैं। मान-अपमान की बातों पर उन्हें हँसी आती है। वे अब सिर्फ़ इतना ही चाहते हैं कि कोई ऐसा काम करें, जिससे जयसिंह का आत्मा भली भाँति सन्तुष्ट हो। चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, कोई काम उन्हें सूझ न पड़ा। चारों ओर उन्हें शून्य ही शून्य दिखाई दे रहा है। इस

शून्य मन्दिर ने तो मानो उन्हें दबा डाला। मानो उस मन्दिर ने उनकी साँस बन्द कर दी। वे कोई एक बड़ा काम करके अपने हृदय की यातना मिटाना चाहते हैं किन्तु इस शून्य मन्दिर की ओर देख कर पिंजरे में बन्द चिड़िया की तरह उनका हृदय अधीर हो उठा।

वे वहाँ से उठ कर मन्दिर के समीपवर्ती उपवन में व्यग्रचित्त होकर घूमने लगे। मन्दिर के भीतर की निश्चेष्ट निर्जीव मूर्तियों पर उनको बड़ी ही घृणा उत्पन्न हुई। उन्हें अब इन पत्थर की मूर्तियों की सेवा में रह कर समय बिताना व्यर्थ जान पड़ा। जब रात दोपहर के लग भग बीती तब रघुपति ने चकमक पत्थर से आग निकाल कर एक चिराग़ जलाया, चिराग़ को हाथ में लेकर वह मन्दिर में गये। भीतर जाकर उन्होंने देखा कि चौदहों देवता समान भाव से खड़े हैं। पारसाल आषाढ़ की कालरात्रि में, दिये की धुँधली रोशनी में, भक्त के मृतकलेवर के सम्मुख, रक्तस्रोत के बीच वे ज्ञानहीन अचेतन की तरह जिस प्रकार खड़े थे आज भी उसी प्रकार खड़े हैं। रघुपति ज़ोर से बोल उठे—झूठ, सब झूठ! हा प्यारे जयसिंह! तुमने अपने अमूल्य हृदय का रक्त किसे अर्पित किया। यहाँ कोई देवता नहीं, कोई देवता नहीं। इस पिशाच रघुपति ने ही उस लोहू का पान किया, यह कह कर रघुपति ने कालीजी की मूर्ति को आसन पर से

खींच कर उठा लिया, और मन्दिर के द्वार पर खड़े होकर ज़ोर से उसे दूर फेंक दिया। अँधेरे में वह पत्थर की मूर्त्ति पत्थर की सीढ़ियों पर से शब्दपूर्वक लुढ़कती पुढ़कती गोमती के जल में जा गिरी। जो अविद्या राक्षसी पत्थर का स्वरूप धारण करके इतने दिनों से रक्तपान करती आती थी वह आज गोमती के गर्भस्थ हज़ारों पत्थर के टुकड़ों में जा मिली। किन्तु वह अविद्या राक्षसी मनुष्यों के कठिन हृदयरूपी आसन का परित्याग न कर सकी। रघुपति चिराग़ बुझा कर मन्दिर के बाहर निकल कर रास्ते पर आये। वे उसी रात को राजधानी छोड़ कर चल दिये।

इकतालीसवाँ परिच्छेद

बिल्वन ठाकुर कुछ दिनों से नवाखाली ज़िले के अन्तर्गत निज़ामपुर में ठहरे हैं। वहाँ भयङ्कर रूप से हैज़ा फैला हुआ है। फागुन महीने के अन्त में एक दिन बादल घिर आया। दिन भर आसमान पर मेघ छाये रहे। बीच बीच में थोड़ा थोड़ा पानी भी बरस जाता था। आख़िर शाम को पानी बरसने लगा। पहले पूरवा हवा बह रही थी, रात के दूसरे पहर उत्तर और ईशान कोण की हवा बड़े वेग से बहने लगी।

उसके साथ ही साथ पानी बरसने लगा। बड़ी देर तक खूब ज़ोर शोर से पानी बरस जाने पर झड़ी कुछ कम हुई। उसी वक्त हल्ला मचा कि बाढ़ आ रही है। कोई घर के छप्पर पर जा चढ़ा, कोई ऊँचे टीले पर जा खड़ा हुआ। कोई पेड़ पर, कोई मन्दिर के शिखर पर जा बैठा। रात बिलकुल अँधेरी है। कुछ कुछ पानी भी पड़ रहा है। बाढ़ आने का शब्द भी क्रमशः लोगों को सुनाई देने लगा। उसे सुन कर गाँव के सभी लोग हतबुद्धि हो गये। देखते ही देखते बाढ़ आ पहुँची। एक बार उसकी तरङ्ग आई, उसके ऊपर फिर तुरंत दूसरी तरङ्ग आई, दूसरी बार की तरङ्ग आने के साथ गाँव में आठ हाथ खड़ा पानी चढ़ आया। जब सबेरा हुआ, और पानी का वेग कुछ कम हुआ तब सारा गाँव पानी में डूबा हुआ दिखाई देने लगा। गाँव में ऐसे घर बहुत ही थोड़े बच गये थे जो पानी में बिलकुल डूबे हुए नहीं थे। लोगों का पता नहीं। दूसरे दूसरे गाँव से, आदमियों और चौपायों की कितनी ही लाशें बह बह कर आई हैं। बड़े बड़े आम और कटहल के पेड़ जड़ से उखड़ कर अलग पड़े हैं, कितने ही पेड़ पानी में बह गये हैं। दीवार गिर जाने से दूसरे गाँव के घरों के कितने ही छप्पर बह कर आये हैं जो जहाँ तहाँ उलटे पलटे पड़े हैं। कितने ही मिट्टी के बर्तन पानी के ऊपर इधर उधर तैर रहे हैं। गाँव में बहुत

से छोटे छोटे घर ऐसे थे जो बाँस, आम, कटहल और फर-हद आदि बड़े बड़े पेड़ों से घिरे थे, इस कारण कितने ही लोग एकदम न बह कर उन पेड़ों में उलझ रहे। कितने ही लोग सारी रात उस बाढ़ की तरंगों में झूमते हुए बाँस को पकड़ कर उसके साथ बराबर झूलते रहे। किसी का शरीर फरहद के काँटों से छिन्न भिन्न हो गया है। कितने ही मनुष्य पेड़ उखड़ जाने पर उसके साथ ही बह गये हैं। पानी हट जाने पर जो लोग जीते बच गये थे वे नीचे आकर मृतक शरीरों में अपने लोगों की खोज करने लगे। बहुत लाशें अपरिचित थीं जो दूसरे दूसरे गाँव से बह कर आई थीं। उन लाशों का किसी ने अग्निसंस्कार नहीं किया। झुंड के झुंड गिद्ध उतर आये और नोच नोच कर उन मुरदों को खाने लगे। गीदड़ और कुत्तों के साथ उनका कोई झगड़ा न रहा, क्योंकि वे दोनों भी मरही चुके हैं। उस गाँव में बारह घर पठानों के थे। वे लोग बहुत ऊँची भूमि पर बसे हुए थे। इस कारण बाढ़ से प्रायः उन लोगों की कोई हानि न हुई। जीवित व्यक्तियों में जिन लोगों को रहने के लिए घर मिल गया वे रह गये, जिन्हें घर न मिला वे जगह की खोज में अन्यत्र चले गये। उस समय जो लोग विदेश में थे उन लोगों ने देश लौट आने पर नये घर बनवाये, सारांश यह कि फिर धीरे धीरे लोगों की बस्ती बसने लगी। बस्ती अभी

अच्छी तरह बसी भी न थी कि इतने ही में मुरदों के सड़ने से, पोखर का पानी बिगड़ जाने से, हवा गन्दी हो जाने से और भी अनेक कारणों से गाँव में हैज़ा शुरू हुआ। हैज़े ने पहले पठानों ही के महल्ले में प्रवेश किया, और एक साथ सबको धर दबाया। मरे लोगों को गोर देने का या परस्पर एक दूसरे की सेवा करने का किसी को अवसर न मिला। हिन्दुओं ने कहा—"मुसलमान लोग गोहत्या के पापों का फल भोग रहे हैं।" जातीय शत्रुता के कारण तथा जाति-बाह्य होने के भय से कोई हिन्दु उन लोगों को एक चुल्लू पानी तक न पिला सका और न दूसरी ही तरह की कोई सहायता दे सका! बिल्वन ठाकुर संन्यासी जब इस गाँव में आये तब गाँव की हालत ऐसी ही बीत रही थी। बिल्वन के पास कितने ही चेले भी जुट गये थे। उन लोगों ने हैज़े के डर से भागने की चेष्टा की। बिल्वन ने भय दिखला कर उन लोगों को रोक लिया। वे ख़ुद शय्यागत पठानों की अपने हाथों से सेवा करने लगे। उन लोगों को पथ्य, पानी और दवा-दारू देने लगे। उन्होंने मुरदों को गाड़ने का भी प्रबन्ध कर दिया। हिन्दू लोग हिन्दू संन्यासी का यह अनाचार देख कर अचम्भे में आगये। बिल्वन से जो कोई पूछता वे उसे यही जवाब देते कि मैं संन्यासी हूँ, मेरी कोई जाति नहीं, मेरी जात मनुष्य है। मनुष्य जब मरा जा रहा

है तब जाति का विचार कैसा ? अथवा ईश्वर की सृष्टि में मनुष्य जब मनुष्य का प्रेम चाह रहा है तब भी जाति का विचार कैसा ?" हिन्दू लोग बिल्वन की ऐसी निरपेक्ष परोपकारिता देख कर उन पर अश्रद्धा या इनकी निन्दा करने का साहस नहीं कर सके। बिल्वन का यह काम भला है या बुरा इसका भी निश्चय वे लोग नहीं कर सके।

शास्त्रीय ज्ञान न रखने के कारण उन हिन्दुओं ने कुछ सन्देह करते हुए कहा—"यह काम अच्छा नहीं।" किन्तु उन के हृदय में जो पुरुष विराज रहा था उसने कहा—"अच्छा है।" बिल्वन ठाकुर किसी के भले बुरे कहने की कुछ परवा न करके अपना काम करने लगे। मरणासन्न पठान उन्हें पैगम्बर करके मानने लगे। बिल्वन पठान के छोटे छोटे लड़कों को हैज़ा होने की जगह से पृथक् रखने के हेतु उन्हें हिन्दुओं के पास ले गये। हिन्दू बेतरह बिगड़े। किसी ने उन लड़कों को आश्रय न दिया। तब बिल्वन उन लड़कों को एक टूटे फूटे परित्यक्त मन्दिर में ले गये। पठान के लड़के उसी मन्दिर में रहने लगे। बिल्वन सबेरे ही उठ कर उन लड़कों के लिए भिक्षा माँगने बाहर जाते थे। परन्तु भिक्षा देता है कौन ? देश में अन्न कहाँ ? कितने ही लोग आहार न मिलने के कारण भूकों मर रहे हैं। उस गाँव का जो मुसलमान ज़मीदार था उसका घर वहाँ से बहुत दूर था। बिल्वन उसके

पास गये। किसी तरह उन्हें प्रसन्न करके उनसे कुछ रुपया लेकर चावल मँगाने लगे। वे आप रोगियों की सेवा करते थे और उनके चेले चावल बाँटते थे। बिल्वन अवकाश पाने पर कभी कभी उन लड़कों के साथ मिल कर खेलते थे। वे लड़के उन्हें देखते ही कोलाहल करने लगते थे। शाम के वक्त उस मन्दिर के पास होकर जाने से मालूम होता था जैसे मन्दिर में हज़ारों तोते एक साथ टें टें कर रहे हैं। बिल्वन के पास इसराज़ के आकार का एक बाजा था। वे जब बहुत थक जाते थे तब उसी को बजा कर कुछ गाते थे। जब लड़के उनको कुछ गाते बजाते देखते थे, तब वे चारों ओर से उन्हें घेर कर बैठते थे। कोई ध्यानपूर्वक उनका गाना सुनता था, कोई बाजे का तार खींचता था, और कोई गाने की कोशिश करके बेतरह तान उठाता था।

आख़िर मुसलमान के महल्ले से हैज़ा हिन्दुओं के महल्ले में आया। गाँव में एक तरह से अराजकता हो उठी। चोरी डकैती का अन्त न रहा। जो जिसे पाता था लूट लेता था। मुसलमान लोग दल बाँध बाँध कर डकैती करने लगे। वे लोग हिन्दू रोगियों को बिछौने से दूर पटक कर चौकी, चारपाई और चटाई तक ले जाने लगे। बिल्वन जी जान होम कर उन लोगों को रोकने लगे। वे लोग बिल्वन की बात को हृदय से मानते थे, कभी उनकी बात टालने का साहस नहीं

करते थे। बिल्वन इसी प्रकार गाँव की शान्तिरक्षा में लगे थे।

एक दिन सबेरे ही सबेरे एक चेले ने बिल्वन से आकर कहा—"एक परदेशी पीपल के पेड़ के नीचे पड़ा है। उसे हैज़ा हो गया है। लक्षण से जान पड़ता है कि अब वह न बचेगा। साथ में उसके एक छोटा सा लड़का भी है।" बिल्वन ने उसी वक्त जाकर देखा। केदारेश्वर बे-सुध पड़ा है। ध्रुव उसके पास ही धूल पर सो रहा है। केदारेश्वर के प्राण कण्ठगत हो रहे हैं। उसके अन्तकाल की अवस्था आ पहुँची है। रास्ता चलने के कष्ट और अनाहार से वह अत्यन्त खिन्न होगया था। इसी से उस बस्ती में आते ही हैज़ा ने एकाएक उसको धर दबाया। बिल्वन ठाकुर ने बहुत कुछ उपचार किया पर किसी दवाई से कुछ फ़ायदा न हुआ। कुछ देर के बाद उसी पेड़ के नीचे उसकी मृत्यु हुई। ध्रुव की दशा देख कर बिल्वन को बड़ा ही दुःख हुआ। उसकी चेष्टा से उन्हें जान पड़ा कि जैसे बड़ी देर से कुछ न खाने के कारण वह भूक से रोकर सो गया। बिल्वन बड़ी सावधानी से उसे गोद में उठा कर अपने उसी बालकाश्रय मन्दिर में ले गये।

बयालीसवाँ परिच्छेद

चटगाँव इस समय अराकान की मातहती में है। गोविन्दमाणिक्य राज्यच्युत होकर चटगाँव में आये हैं, यह सुन कर अराकान के राजा ने बड़े विनीत-भाव से उनके पास दूत भेजा और कहला भेजा कि—"अगर वे अपने सिंहासन पर फिर अधिकार करना चाहें तो मैं अपनी सेनाओं के साथ उनकी सहायता करने को तैयार हूँ।" गोविन्दमाणिक्य ने उस दूत से कहा—"मैं सिंहासन नहीं चाहता।"

दूत—"महाराज, कुछ दिन अराकान की राजधानी में चल कर निवास करें।"

राजा—"मैं राजधानी में भी रहना नहीं चाहता। चटगाँव के किसी प्रान्त में कोई एक स्थान मिल जाने ही से मैं अराकान के राजा का ऋणी रहूँगा।"

दूत—"महाराज जहाँ रहना पसन्द करें वहीं रह सकते हैं। इस राज्य को आप अपना ही करके समझें।"

अराकान के कितने ही नौकर राजा के साथ ही साथ रहे। गोविन्दमाणिक्य ने उन लोगों को साथ रहने में मना नहीं किया। उन्होंने मन ही मन कहा—अराकान ही तो है,

शायद मेरे ऊपर कुछ सन्देह करके अकारान के राजा मेरे निकट अपने लोगों को रखना चाहते हों।

मयानी नदी के किनारे राजा ने अपनी कुटी बँधवाई। नदी का जल बड़ा ही स्वच्छ है। धार उतनी विस्तृत नहीं है, किन्तु पत्थर के छोटे बड़े टुकड़ों पर से कल कल शब्द करती हुई बड़े वेग से बह रही है। उस नदी के दोनों तरफ़ काले रङ्ग के पहाड़ खड़े हैं। उनके काले पत्थरों पर विचित्र वर्ण के सेवाँर हैं जो नीचे की ओर लटक रहे हैं। पहाड़ में कहीं कहीं छोटी छोटी गुफायें हैं जिनमें भाँति भाँति के पक्षी निवास करते हैं। कहीं कहीं पहाड़ का शिखर इतना ऊँचा है कि जिसकी ओट में सूर्य की किरणें बड़ी देर में नदी पर आकर पड़ती हैं। पहाड़ के ऊपर अनेक प्रकार के बड़े बड़े पौदे भिन्न भिन्न आकार के फूल पत्तों से शोभायमान होकर झूम रहे हैं। कहीं कहीं नदी के दोनों किनारे दूर तक घना जंगल चला गया है। एक लम्बा, शाखाहीन सफ़ेद डिठुवन का पेड़ पहाड़ पर तिरछा खड़ा है, जिसकी छाँह नीचे नदी के चञ्चल जल में नाच रही है। बड़ी बड़ी लतायें उस पेड़ से लिपट कर धीरे धीरे हिल रही हैं। उस पार्श्ववर्ती घने जंगल में कहीं कहीं केले का वन भी नज़र आता है। कहीं कहीं छोटे छोटे झरने हैं जिनका जल बड़े वेग से बह कर उस नदी में आकर प्रवेश करता है। नदी का प्रवाह पत्थर

के टुकड़ों पर से बह कर नीचे की ओर गिरता है, उसका लगातार झर्झर शब्द पहाड़ से टकरा कर प्रतिध्वनित हो रहा है।

गोविन्दमाणिक्य इसी नदी के किनारे, शीतल छाया में उन झर्झर शब्दों का आनन्द अनुभव करते हुए, पहाड़ के नीचे अपनी शान्ति कुटी में रहने लगे और शान्ति-सुख से हृदय को भरने लगे। एकान्त प्रकृति का शान्तिमय प्रेम चारों ओर से झरनों की तरह उनके हृदय पर गिर कर उनके समस्त मानसिक तापों को दूर करने लगा। वे धीरे धीरे अपने हृदय-गह्वर से क्रोध, अहङ्कार आदि बुरे दोषों को निकाल बाहर करने लगे। उन्होंने अपने हृदय का द्वार खोल दिया। उसमें स्वच्छ प्रकाश और ठंडी हवा ने प्रवेश करके उसके अन्धकार और उत्तापों को बिलकुल दूर कर दिया। किसने उनसे एक हाथ से उपकार ग्रहण करके दूसरे हाथ से उनके साथ कृतघ्नता का काम किया है, किसने उनसे सम्मानित होकर उनका अपमान किया है, इन सब बातों को वे एकदम भूल गये। वे इस पर्वतवासिनी पुरातन प्रकृति की अविरत कार्यकारिता देख कर और उसकी शाश्वतिक चिन्ता-रहित शान्तिमय नवीनता देख कर आप भी मानो वैसे ही नूतन, निश्चिन्त और शान्त स्वरूप हो उठे। उन्होंने अपने निष्काम प्रेम को मानो संसार की दशों दिशाओं में

फैला दिया। वे अपनी समस्त वासनाओं को दूर करके हाथ जोड़ कर बोले—हे ईश्वर, तुम धन्य हो। तुमने सम्पत्तिशिखर से गिरते हुए मुझे अपनी गोद में उठा कर इस यात्रा में बचा लिया। मैं गिरा ही चाहता था। तुम्हारी कृपा से मैं अब बच गया। जब मैं राजा था तब मैंने अपना महत्त्व कुछ नहीं जाना। आज मैं अपना महत्त्व सारे संसार में फैला हुआ देख रहा हूँ।" वे आगे और कुछ बोल न सके। उनका गला भर आया। उनकी दोनों आँखों से आँसू गिरने लगे। कुछ देर के बाद धीरज धर कर वे फिर बोले—नाथ, तुमने मेरे स्नेहाधार ध्रुव को मुझ से अलग कर दिया है। उसकी यन्त्रणा अब भी मेरे हृदय में कुछ कुछ हो आती है। यद्यपि मैं समझता हूँ कि तुमने यह अच्छा ही किया है तथापि उसके लिए कभी कभी हृदय अधीर हो उठता है। मैंने उस बालक के स्नेह में अपने समस्त कर्तव्यों को भूल कर अपने जीवन का उद्देश उसी के ऊपर निर्भर कर रक्खा था। तुमने संकट से मुझे बचाया। मैंने ध्रुव को अपने समस्त पुण्य का पुरस्कार मान कर ग्रहण किया। तुम उसका हरण करके शिक्षा दे रहे हो कि पुण्य का पुरस्कार पुण्य ही होता है। तुम्हारी इस शिक्षा के प्रभाव से मैं आज उस ध्रुव के पवित्र विरह-दुःख को सुख मान कर तुम्हारे अनुग्रह का अनुभव कर रहा हूँ। प्रभो! मैं चेतन-स्वरूप काम्यफल ग्रहण करके सेवक की तरह

काम न करूँगा। मैं केवल तुम्हारे प्रेम के वशवर्ती होकर तुम्हारी सेवा करूँगा।

गोविन्दमाणिक्य ने देखा कि जो शान्तिमयी प्रकृति एकान्त में स्नेहधारा का संचय करती है, वह उसीको जन-समाज में घर घर नदी की भाँति प्रवाहित करती है।

जो उस प्रेम-प्रवाह में मग्न होता है उसका ताप शान्त हो जाता है, उसकी तृषा शान्त हो जाती है। जो उस प्रेम-प्रवाह का स्पर्श नहीं करता उस पर प्रकृति का कोई दबाव भी नहीं"। गोविन्दमाणिक्य ने अपने मन में सोचा—"मैं भी अपने इस जगह के शान्तिमय सञ्चित प्रेम लोगों में बाँटने के हेतु बाहर जाऊँगा।" वे उस आश्रम को छोड़ कर बाहर हुए।

सहसा राज्य छोड़ कर उदासीन होना, बोलने में जितना सुगम जान पड़ता है वास्तव में उतना सुगम नहीं है। राजकीय वेष का परित्याग करके गेरुआ वस्त्र-धारण करना कुछ सहज नहीं है। राज्य का परित्याग करना कदाचित् सहज हो भी सकता है किन्तु हम लोगों को जन्मकाल से जो छोटे छोटे कितने ही अभ्यास पड़ गये हैं उनका छोड़ना सहज नहीं है। उन अभ्यासों को हम एकाएक नहीं छोड़ सकते। वे अभ्यास अपनी तृष्णा के उत्कट आवेगों को लेकर हमारी

नस नस में समा गये हैं। उनकी तृष्णा यथावसर पूरी न की जाय तो वे हमारे रुधिर को ही सोखने लग जायँ।

कोई यह न समझे कि गोविन्दमाणिक्य जितने दिन अपने उस जनसमाजरहित कुटी में रहे उतने दिन वे आलसी की तरह पाँव फैला कर ही पड़े रहे। नहीं, वे पग पग पर अपने छोटे छोटे हज़ारों अभ्यासों के साथ युद्ध करते थे। जब किसी चीज़ के अभाव से उनका हृदय अधीर हो उठता था तब वे आप ही अपने को धिक्कारते थे। वे अपने मन की सहस्रमुखी तृष्णा को कुछ खाना न देकर धीरे धीरे उसे नष्ट कर डालते थे। वे पग पग पर अपने इन अनेक अभ्यासों के ऊपर विजय प्राप्त कर सुख पाते थे। जिस तरह लोग दुर्दम्य घोड़े को ख़ूब ज़ोर से दौड़ा कर उसे थकाते हैं उसी तरह वे अपने अभ्यस्त पदार्थों के न मिलने पर अपने अधीर हृदय को अभावरूपी मरुस्थल के मैदान में बार बार दौड़ा कर शान्त करते थे। उन अभ्यासों के कारण उन्हें बहुत दिनों तक चैन न मिला।

गोविन्दमाणिक्य पहाड़ी प्रदेश को छोड़ कर दक्षिणी समुद्र की ओर चले। वे वासना की सारी परतन्त्रता परित्याग कर के अपने मन में स्वाधीनता का सुख अनुभव करने लगे। अब एक भी विघ्नकर्ता उनके पास न रहा। आगे बढ़ने में अब उन्हें कोई किसी तरह की बाधा नहीं पहुँचा सकता,

उन्होंने प्रकृति को व्यापक रूप में देखा और अपने को भी उसीका एक परमाणु करके माना। वे हरित वृक्षों में, लताओं में, सूर्य्य की सुनहरी किरणों में प्रकृति की अपार शोभा देखने लगे। वे मनुष्यों के हँसने, बोलने, उठने, बैठने और चलने फिरने में एक अपूर्व आनन्द पाने लगे। उन्होंने जिसे देखा उसीको पास बुला कर और उसके साथ बात करके सुख पाया। जिसने उनकी उपेक्षा की उसपर भी उनके हृदय का सद्भाव बना रहा। उनके मन में दुर्बलों की सहायता करने और दुखियों का यथासाध्य उपकार करने की अभिलाषा विशेष रूप से जाग्रत हो उठी। उन्होंने अपने समस्त बल तथा समस्त सुखों को परार्थ त्याग दिया। उन्हें अब निज का कोई काम न रहा, न किसी पदार्थ की वासना ही रही। इस जड़चेतनमय संसार में जो दृश्य दूसरे को दिखाई नहीं देते थे वे सब नूतन स्वरूप धारण करके उनकी दृष्टि के सामने आने लगे। वे जब दो लड़कों को सड़क पर बैठे खेलते हुए देखते थे। जब दो भाइयों को, पिता पुत्र को, माँ और बच्चे को एक साथ बैठे हुए देखते थे, वे धूलि-धूसरित हों, दरिद्र हों, चाहे कृपण हों तब वे उनमें मनुष्य के अतिविस्तृत हृदय-समुद्र का एक अपार प्रेम देख पाते थे। जो माता बच्चे को गोद में लिये हुए है, मानो वे उसी माँ को भूत और भविष्य के समस्त बालकों की माँ कर के मानते

थे। वे दो मित्रों को परस्पर मधुरालाप करते हुए देख कर समस्त मनुष्य जातियों को इसी तरह मित्र के प्रेम में अनुरक्त होने का अनुभव करते थे। वे जिस पृथ्वी को पहले प्रायः मातृहीना करके जानते थे उस पृथ्वी को अब उन्होंने नीचे नज़र किये चिरकाल से जगी हुई माता की गोद में बैठे पाया। संसार के दुःख, शोक, दारिद्र्य, विवाद आदि देख कर भी अब उनके मन में घबराहट नहीं होती। वे अब किसीका दुख देख कर हताश नहीं होते। किसी तरह का शुभ लक्षण देखते ही उनकी आशा हज़ारों अशुभों की आशङ्का से पार हो कर एकाएक खिल उठती थी। हम लोगों की सारी ज़िन्दगी में क्या एक दिन भी ऐसे अभूतपूर्व नये प्रम और नई स्वाधीनता का उदय नहीं हुआ होगा जिस दिन इस सुख-दुःखमय संसार को एक सुन्दर सुकुमार बालक की तरह प्रेमोल्लसित विनोद की गोद में प्रफुल्ल भाव से बैठे हुए देखा होगा? हम लोगों के लिए भी कोई दिन ऐसा आ सकता है कि जिस दिन कोई हम लोगों को विचलित नहीं कर सकता, कोई हमको किसी सांसारिक सुख से वञ्चित नहीं कर सकता, कोई हमको किसी क़िले के अंदर बन्द करके नहीं रख सकता। किसी दिन हम लोगों के लिए भी एक अपूर्व आनन्द-सितार का तार बज उठता है। एक अपूर्व वसन्त ऋतु की शोभा झलक पड़ती है

और युवत्व के आनन्द से सारा संसार भर जाता है। कोई दिन ऐसा भी आता है कि जिस दिन सारा दुःख-दारिद्र्य मन में रहने नहीं पाता। नवीन स्वाधीनता की उमङ्ग में, अनिवार्य्य स्वतन्त्रता के साम्राज्य में, उदार हृदय गोविन्दमाणिक्य को आज वही दिन प्राप्त हुआ है।

चटगाँव से दक्खिन की ओर रामूशहर अब भी दस कोस दूर है। गोविन्दमाणिक्य शाम होने के कुछ पहले जब आलमखाल नामक एक छोटी सी बस्ती में जा पहुँचे, तब उन्हें उस गाँव के प्रान्त में एक घर के अन्दर से एक खिन्न-कण्ठ बालक के रोने का शब्द सुनाई देने लगा। गोविन्द-माणिक्य का हृदय अत्यन्त उद्विग्न हो उठा। वे उसी घड़ी उस घर के भीतर गये। उन्होंने देखा कि एक युवा एक दुबले पतले लड़के को गोद में लिये घर के भीतर इधर उधर टहल रहा है। लड़का थर थर काँप रहा है और ज़रा देर ठहर ठहर कर वह रो उठता है। वह युवा उसको अपनी छाती से लगा कर सुलाने की चेष्टा कर रहा है। एकाएक संन्यास-वेष-धारी गोविन्दमाणिक्य को देख कर वह सकपका गया। उसने अधीर स्वर में कहा—"स्वामी जी, इस लड़के को आशीर्वाद दीजिए।" गोविन्दमाणिक्य ने अपना कम्बल निकाल कर अच्छी तरह उस बालक को उढ़ा दिया। लड़के ने एक बार अपना सिर उठा कर गोविन्दमाणिक्य की ओर

देखा। उस लड़के की आँखों के नीचे झाँई पड़ गई थी। उसके सूखे से मलिन मुँह में दो आँखों के सिवा और कुछ नहीं मालूम होता था। वह गोविन्दमाणिक्य को ही देख कर एक बार अपने पतले सफ़ेद होठों को हिला कर अस्पष्ट शब्दों में कुछ बोला। तदनन्तर अपने बाप के कन्धे पर माथा रख कर चुप चाप पड़ रहा। उस युवा ने लड़के को नीचे बैठा कर राजा को प्रणाम किया और उनके पैरों की धूळ लेकर लड़के के माथे पर और शरीर में लगाई। राजा ने उस लड़के को अपनी गोद में उठा कर उस युवा से पूछा—"इस लड़के के बाप का नाम क्या है? युवा ने कहा--"इसका बाप मैं ही हूँ। मेरा नाम यादव है।" यादव आँखों में आँसू भर कर कहने लगा—"दैव ने एक एक कर मेरे सब लड़के छीन लिये। अब सिर्फ़ यही एक लड़का बच रहा है।" यह कह कर उसने एक बडी गहरी साँस ली। राजा ने उस युवा से कहा—"आज की रात मैं तुम्हारे ही यहाँ अतिथि होकर रहूँगा। मैं कुछ भोजन न करूँगा। अतएव मेरे लिए भोजनादि का प्रबन्ध न करो। केवल यहाँ रह कर रात बिताऊँगा।" गोविन्दमाणिक्य उस रात वहीं रहे। उनके साथ के नौकरों ने एक धनवान् कायस्थ के घर जाकर आतिथ्य ग्रहण किया। देखते ही देखते साँझ हो गई। उस घर के नज़दीक सेवारों से ढकी हुई एक पोखर थी। उसके ऊपर से भाप उड़ने लगी, ग्वालों के घर से

घूर जलाने का धुआँ सीधे आसमान की ओर न जाकर चक्कर लगाता हुआ सामने के बड़े लम्बे चौड़े जलाशय और मैदान में फैल गया। झाड़ियों में झिल्लियाँ कर्कशस्वर में बोलने लगीं; हवा बन्द हो गई। पेड़ का पत्ता तक भी नहीं हिलता। पोखर के दूसरे घाट में बाँसों का घना जंगल है। उन बाँसों की झाड़ में से एक चिड़िया रह रह कर टर् टर् करके बोल उठती है। गोविन्दमाणिक्य दिये की धुँधली रोशनी में उस रोगी बालक का मलिन मुँह देख रहे हैं। वे उसे भली भाँति कम्बल से ढक कर उसके पास ही बैठ कर उसे तरह तरह के क़िस्से सुनाने लगे। सन्ध्या बीत चली। गीदड़ बोलने लगे। लड़का क़िस्सा सुनते सुनते बीमारी की तकलीफ़ भूल कर सो रहा। राजा दूसरे घर में, जो उस घर के पास ही था, जाकर सो गये। रात में उन्हें नींद नहीं आई। सारी रात वे केवल ध्रुव की ही बात सोचते रहे। राजा ने मन ही मन कहा—"मैं ध्रुव को खोकर अब सभी लड़कों को ध्रुव के ही समान समझता हूँ।"

जब दिन निकलने को हुआ तब राजा ने सुना कि लड़का जाग कर अपने बाप से पूछ रहा है—"बाबू जी, क्या बजता है?"

बाप ने कहा—"ढोल बजता है।"

बालक—"ढोल क्यों बजता है?"

बाप—"कल पूजा है।"

लड़का—"कल पूजा है? पूजा देखने के लिए मुझे कुछ नहीं दोगे?"

बाप—"क्या दूँ बच्चा?"

लड़का—"मुझको एक लाल दुशाला न दोगे?

बाप—"मैं दुशाला कहाँ पाऊँगा? मेरे लाल, मेरे पास कुछ नहीं है।"

लड़का—"तुम्हारे पास कुछ नहीं है?'

बाप—"हाँ, बच्चा, कुछ नहीं है, केवल तुम्हीं एक हो," यह कह कर उसने जो फटे हृदय से एक दीर्घ निश्वास लिया तो उस पासवाले घर में सोये हुए राजा ने सब सुन लिया।

इसके बाद लड़का फिर कुछ न बोला। मालूम होता है, वह बाप की छाती से लग कर सो गया।

दिन अच्छी तरह निकलने भी न पाया था कि इतने में गोविन्दमाणिक्य उठ बैठे। घरवाले को अपने जाने की सूचना बिना दिये ही घोड़े पर सवार हो वे रामू शहर की तरफ़ चल पड़े। उन्होंने दिन में न कुछ खाया, न पिया और न कहीं विश्राम ही किया। रास्ते में एक छोटी सी नदी मिली; घोड़े पर चढ़े ही आप नदी पार हो गये। दुपहरी की कड़ी धूप के वक्त, वे रामूशहर में जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने अधिक देर न

लगाई। शाम होने के कुछ पहले ही वे यादव के घर लौट आये। यादव को एकान्त में बुला ले गये। उन्होंने अपनी झोली से एक लाल दुशाला निकाला और उसे यादव के हाथ में देकर कहा—"आज पूजा के दिन यही शाल तुम अपने लड़के को दो।"

यादव ने रोकर उनके पैर पकड़ लिये और कहा—"स्वामी जी, आप ही अपने हाथ से उसे दें।"

राजा—"नहीं, मैं न दूँगा। मेरे देने से कोई फल नहीं। तुम मेरा नाम भी उससे न कहो। मैं केवल तुम्हारे लड़के के मुँह से आनन्द की मुसकुराहट देख कर चला जाऊँगा।"

उस रोगी बालक के अत्यन्त खिन्न मलिन मुँह को विकसित होते देख राजा चले गये। राजा दुःखी होकर मन ही मन कहने लगे—"हाय! मैं किसी काम का नहीं। मैंने कई वर्ष तक केवल राज्योपभोग ही किया। कुछ सीखा नहीं। किस तदबीर से इस छोटे से लड़के का रोग निवृत्त होगा यह मैं नहीं जानता। मैं केवल निरुपाय अकर्मण्य होकर शोक करना ही जानता हूँ। यदि बिल्वन ठाकुर होते तो इसका कुछ उपकार वे अवश्य कर जाते। हे ईश्वर, मैं भी यदि बिल्वन ठाकुर के सदृश हो जाता?"

गोविन्दमाणिक्य ने निश्चय किया कि "मैं अब इधर उधर भटकता न फिरूँगा। जनसमाज में रह कर काम करना सीखूँगा।"

रामू शहर के दक्खिन ओर राजकुल के क़रीब मग लोगों का जो क़िला है, उसी में वे अराकान के राजा से आज्ञा लेकर निवास करने लगे।

गाँववालों के जितने लड़के-बाले थे, वे सब के सब क़िले के अन्दर गोविन्दमाणिक्य के पास आ जुटे। गोविन्द-माणिक्य ने उन लड़कों को लेकर एक बड़ी पाठशाला खोली। वे उन्हें पढ़ाते थे और जब तब उनके साथ खेलते थे। कभी कभी वे उनके साथ जाकर उन्हीं के घर पर रह जाते थे। जो लड़के बीमार होजाते थे उन्हें देखने के लिए वे स्वयं उनके घर जाते थे। लड़के सब स्वर्ग से ही आये हैं अथवा वे देव-बालक हैं—यह बात नहीं है। मनुष्यों और राक्षसों में क्या भेद है? वे इतना तक भी नहीं जानते। उन लोगों में स्वार्थ-परता, क्रोध, लोभ, द्वेष और हिंसा-बुद्धि बड़ी ही प्रबल थी। माँ-बापों के पास घर पर उन्हें अच्छी शिक्षा मिलती है सो भी नहीं। इस कारण गोविन्दमाणिक्य ने उन लड़कों को सुशिक्षित करना नितान्त आवश्यक समझा। क़िला जो बिलकुल खाली पड़ा था, मगजाति के बालकों से भर गया। माने क़िले के अन्दर उनञ्चास वायु और चौंसठ तत्त्व मिल कर एक साथ रहने लगे। गोविन्दमाणिक्य इन्हीं सब साम-ग्रियों को एकत्र कर बड़ी धीरता से उन्ह मनुष्य बनाने की चेष्टा करने लगे। मनुष्य का जीवन कैसा श्रेष्ठ है और किस

प्राणपण से यत्नपूर्वक उसकी रक्षा करनी चाहिए यह गोविन्दमाणिक्य भली भाँति जानते हैं। वे अपने चारों ओर मनुष्यों को कर्तव्य-परायण देखना चाहते हैं और चाहते हैं कि असंख्य फलों से भरा हुआ मनुष्यजन्म सार्थक हो। गोविन्दमाणिक्य अपनी चेष्टा से इसीका साधन करके अपना शेष जीवन बिताना चाहते हैं। इसके लिए वे सभी कष्ट और सभी विघ्न-बाधाओं का सहन कर सकते हैं। उन्हें कभी कभी खेद इस बात का हो आता है कि वे अपने काम को अच्छी तरह पूरा नहीं कर सकते। वे सोचते हैं कि बिल्वन ठाकुर साथ रहते तो अच्छा होता।"

इस प्रकार गोविन्दमाणिक्य सैकड़ों ध्रुव को लेकर समय बिताने लगे।

तेतालीसवाँ परिच्छेद

इधर शाहशुजा अपने भाई औरङ्गज़ेब की सेना से पराजित होकर भागने का उद्योग कर रहे हैं। इलाहाबाद के पास रणभूमि में उनकी हार हुई। शुजा शत्रु से हार कर इस विपत्ति के समय अपने पक्ष के लोगों का भी विश्वास न कर सके। वे अपमानित और सशङ्कित होने के कारण वेश बदल

कर साधारण मनुष्य की तरह अकेले भाग चले। शुजा जहाँ जाते हैं वहीं उनके पीछे विजय-पताका लिये शत्रुसेना आ पहुँचती है। मानो उनके साथ ही साथ शत्रुसेनाओं के घोड़ों की टाप लगी फिरती है। आख़िर जैसे तैसे वे पटना पहुँचे, वहाँ पहुँच कर उन्होंने फ़िर नवाब का रूप धारण करके अपने आने की ख़बर सबों पर ज़ाहिर की। वे अभी पटना आये ही हैं, इतने में औरङ्ग़ज़ेब के बेटे मुहम्मद सेनाओं के साथ पटने के पास आपहुँचे। शुजा तुरत पटना छोड़ मुङ्गेर भाग गये।

मुङ्गेर में उनके कितने ही खोये हुए सिपाही और साथी लोग जहाँ तहाँ से आ आकर उनके पास जुटने लगे। वहाँ उन्होंने कुछ नई सेनाओं का भी संग्रह किया। तेलिया गढ़ी और सिकली गली के क़िले की मरम्मत करके और नदी के किनारे पहाड़ के ऊपर दीवारें खड़ी करके वे एक प्रकार निश्चिन्त हो बैठे।

इसी अरसे में औरङ्ग़ज़ेब ने अपने चतुर सेनापति मीर-जुम्ला को शाहज़ादा मुहम्मद की सहायता में भेजा। मुहम्मद ने प्रकट रूप से मुङ्गेर के क़िले के पास आकर अपना डेरा डाल दिया। मीरजुम्ला छिप कर दूसरे रास्ते से मुङ्गेर की तरफ़ रवाना हुए। जब शुजा मुहम्मद के साथ छोटी मोटी लड़ाई में मग्न थे तब एकाएक उन्हें ख़बर मिली कि मीरज़ुम्ला

बहुत बड़ी सेना साथ लिये वसन्तपुर में आ पहुँचे हैं। शुजा घबरा कर झट अपनी सेनाओं को साथ ले मुङ्गेर छोड़ कर राजमहल भाग गये। उनके बाल-बच्चे सब वहीं थे। बादशाह की सेना ने बहुत जल्दी वहाँ भी उनका पीछा किया। शुजा छः दिन तक उन सेनाओं के साथ ख़ूब लड़े। आख़िर जब शुजा ने देखा कि अब रक्षा का कोई उपाय नहीं है तब एक दिन वे चुपचाप उस भयङ्कर अँधेरी रात में अपने बाल-बच्चे और यथासंभव धन-सम्पत्ति ले नदी पार होकर तोण्डा भाग गये और बहुत जल्दी वहाँ के क़िले की मरम्मत में मुस्तैद हुए।

बरसात का मौसम आ पहुँचा। वर्षा के जल से नदी-नाले भर गये। बादशाह की सेना आगे न बढ़ सकी।

इस लड़ाई-दंगे के पहले शाहज़ादा मुहम्मद के साथ शुजा की लड़की के ब्याह की सब बातें पक्की हो गई थीं। किन्तु लड़ाई छिड़ जाने से यह प्रस्ताव दोनों पक्षवाले भूल गये थे।

वर्षा के कारण युद्ध अभी रुका है। मीरजुम्ला राजमहल से कुछ दूर आगे अपना ख़ेमा ले गये हैं। ऐसे समय में तोण्डा की छावनी से एक सवार ने आकर चुपचाप मुहम्मद के हाथ में एक ख़त दिया। शाहज़ादा ने उसे खोल कर पढ़ा, शुजा की लड़की ने लिखा था—"शाहज़ादा साहब, मेरे

नसीब में क्या यही बदा था। मैं जिनको मनहीं मन शौहर क़ायम करके अपना दिल दे चुकी हूँ। जो अँगूठी बदल कर मेरे साथ शादी करने का क़ौल कर चुके हैं, वे आज हाथ में चोखी तलवार लेकर मेरे बाप का गला काटने आये हैं। मुझे क्या यही देखना था? क्या मेरे और आप के ब्याह का यही उत्सव मनाया जा रहा है? क्या इसी के लिए इतना आडम्बर! क्या इसी से आज हम लोगों का राजमहल लाल हो रहा है? क्या इसी की ख़ुशी में शाहज़ादा दिल्ली से लोहे की जंज़ीर हाथ में लिये आये हैं? क्या यही मुहब्बत की जंज़ीर है?"

यह ख़त पढ़ते ही मानो एकाएक शुजा के पैरों के नीचे से धरती निकल गई। उनका हृदय फट गया। वे काँप उठे, बेचैन हो उठे। उन्होंने उसी घड़ी बादशाहत की आशा और बादशाह के अनुग्रह को तिलाञ्जलि दे दी। उन्होंने अपनी नई जवानी की धधकती हुई आग में अपने हानि-लाभ की विवेचना का हवन कर दिया। उन्हें अपने बाप का सारा काम अन्याय-पूर्ण और कठोर सा जान पड़ने लगा। पिता की कपट से भरी हुई कठोर अनीति के विरुद्ध इसके पहले भी वे पिता के सामने अपनी राय साफ़ साफ़ ज़ाहिर किया करते थे, इस कारण बादशाह कभी कभी उन पर असन्तोष भी प्रकट करते थे। आज वे अपने सेनाध्यक्षों में कई एक प्रधान

व्यक्तियों को बुला कर बादशाह की निर्दयता, कुटिलता श्रौर अत्याचार पर खेद प्रकट करते हुए बोले—"मैं अपने चचा से मिलने तांडा जाऊँगा। अगर तुम लोग सच्चे दिल से मुझे प्यार करते हो तो मेरे साथ चलो।" सेनापतियों ने लम्बा सलाम करके फ़ौरन कहा—"शाहज़ादा साहब जो फ़रमा रहे हैं, वह बहुत ठीक है। कल लग भग आधी सेना तांडा की छावनी में शाहज़ादा के साथ जा मिलेगी।" मुहम्मद उसी दिन नदी पार होकर शुजा के ख़ेमे में पहुँचे।

तांडा में सर्वत्र आनन्द छा गया। सब लोग लड़ाई-दंगे की बात एकदम भूल गये। इतने दिन केवल पुरुष ही काम-काज में दिन रात व्यग्र रहते थे। इस समय शुजा के घर में स्त्रियों के हाथ में इतने काम आ पड़े कि उन्हें दम लेने तक की फ़ुरसत नहीं। शुजा ने बड़ी मुहब्बत और ख़ुशी के साथ मुहम्मद का स्वागत किया। अविरत रक्तपात होने के बाद एकाएक रक्तप्रवाह की गति रुक जाने से मानो ख़ून ने दोनों के बदन में ज़ोर पकड़ा। ख़ुशी ख़ुशी शुजा की लड़की के साथ मुहम्मद की शादी हो गई। ब्याह का उत्सव समाप्त होते होते ख़बर आई कि बादशाह की सेना आ रही है।

मुहम्मद जैसे ही शुजा के ख़ेमे में गये वैसे ही सेनाध्यक्षों ने मीरजुम्ला के पास ख़बर भेजी। बादशाह की एक भी फ़ौज मुहम्मद के साथ न मिली। वे लोग समझ गये थे कि मुहम्मद

अपनी इच्छा से विपत्ति के समुद्र में कूद पड़े हैं। उनके दल में जाकर सम्मिलित होना निरा पागलपन है।

शुजा और मुहम्मद को विश्वास था कि बादशाह की अधिकांश सेना रणभूमि में उनके साथ आ मिलेगी। इसी आशा पर मुहम्मद अपनी झंडी फ़हराते हुए रणभूमि में आ पहुँचे। बादशाह की सेना का एक बड़ा दल उनकी ओर अग्रसर हुआ। मुहम्मद मारे ख़ुशी के फूल उठे। जब नज़दीक आकर उन लोगों ने मुहम्मद की सेना पर गोला बरसाना शुरू किया तब मुहम्मद की आँखें खुलीं। किन्तु अब आँख खुलने पर होही क्या सकता है। समय न रहा। शुजा की सेना भागने पर हुई। शुजा के बड़े बेटे समरशायी हुए।

बदनसीब शुजा उसी रात अपने दामाद और बालबच्चों को साथ लेकर तेज़ चलनेवाली नाव पर चढ़ कर ढाका भाग गये। मीरजुम्ला ने ढाके तक शुजा का पीछा करना ज़रूरी नहीं समझा। वह अपने अधिकृत देशों में शान्ति-स्थापन की ओर प्रवृत्त हुआ।

शुजा के दुःख के दिनों में, विपत्ति के समय जब मित्रवर्ग एक एक करके सब विमुख हुए जाते थे तब मुहम्मद ने अपने धन, प्राण, सम्मान आदि की कुछ परवा न करके शुजा के पक्ष का अवलम्बन किया। इस कारण शुजा का हृदय मोम

की तरह पिघल उठा। वे दिलोजान से मुहम्मद को प्यार करने लगे। इसी समय औरंगज़ेब का एक जासूस चिट्ठी के साथ ढाका शहर में पकड़ा गया। उसकी चिट्ठी शुजा के हाथ में जा पड़ी। औरङ्ग़ज़ेब मुहम्मद को लिखते हैं—"मेरी आँखों के पुतले प्यारे मुहम्मद, मैंने जिस काम के लिए तुम्हें भेजा था, तुम उसे पूरा नहीं कर सके। तुमने अपने कर्तव्य का पालन न करके अपने स्वच्छ यश में धब्बा लगा लिया। ललना के कपटपूर्ण हास्य में मुग्ध होकर तुम अपना कर्तव्य भूल गये। बड़े खेद का विषय है कि जिसके हाथ किसी समय समस्त मुग़ल साम्राज्य के शासन का भार पड़ेगा वह आज एक नाज़नी के नयन-तीर का निशाना हो रहा है। जो हो, जब तुमने ईश्वर के नाम पर शपथ खा कर खेद प्रकाश किया है, तब मैं तुम्हें क्षमा प्रदान करता हूँ। किन्तु जिस काम के लिए तुम वहाँ ठहरे हो उसे पूरा करके जब आओगे तब हमारे पूर्ण अनुग्रह के अधिकारी बनोगे।"

शुजा का हृदय काँप उठा। मानो उन पर एकाएक वज्र-पात हुआ। मुहम्मद ने बार बार कहा कि "उन्होंने पिता के निकट कभी कुछ खेद प्रकट नहीं किया है। यह सब उनके पिता का कपट-कौशल है।" किन्तु शुजा का सन्देह दूर नहीं हुआ। शुजा तीन दिन तक बराबर सोचते ही रहे। आख़िर चौथे दिन उन्होंने कहा—"सुनो प्यारे मुहम्मद, हम

लोगों में विश्वास का बन्धन ढीला पड़ गया। अतएव मैं तुमसे अनुरोध करता हूँ कि तुम अपनी स्त्री को लेकर जहाँ चाहो जाओ। तुम्हारे साथ रहने से हमारे मन में दिन दिन अशान्ति बढ़ती जायगी। मैं अपने ख़ज़ाने का द्वार खोल देता हूँ, जितना चाहो उतना धन-रत्न ले जाओ।"

मुहम्मद रोकर बिदा हुए। उनकी स्त्री उनके साथ गई।

शुजा ने मनही मन कहा—"अब युद्ध न करूँगा। चटगाँव के बन्दर से एक जहाज़ लेकर मक्का चला जाऊँगा।"

शुजा यह मन में ठान वेश बदल कर ढाके से रवाना हुए।

चवालीसवाँ परिच्छेद

गोविन्दमाणिक्य जिस क़िले में रहते हैं, एक दिन बरसात के मौसम में दिन के तीसरे पहर, एक फ़क़ीर साथ में तीन लड़कों और एक युवा नौकर को लिये उसी क़िले की ओर आ रहा है। लड़के बहुत थके हुए जान पड़ते हैं। हवा ज़ोर से बह रही है और पानी भी लगातार बरस रहा है। उस फ़क़ीर के साथ जो छोटा लड़का है उसकी उम्र चौदह वर्ष से अधिक न होगी। वह जाड़े से काँपते काँपते अधीर होकर बोला—"बाबूजी, मुझ से तो अब चला नहीं जाता।"

यह कह कर वह अशक्त की तरह रोने लगा। फ़क़ीर ने कुछ जवाब न दे कर उसे अपने पास खींच लिया। बड़े लड़के ने छोटे को डाट कर कहा—"रास्ते में इस प्रकार रोने से क्या फल। चुप हो, व्यर्थ पिता को अधीर मत करो।" तब छोटा लड़का अपने रोने के वेग को रोक कर चुप हो रहा। मँझले लड़के ने फ़क़ीर से पूछा—"हम लोग कहाँ जा रहे हैं ?"

फ़कीर—"सामने जो यह क़िला दिखाई देता है वहाँ जा रहे हैं।"

"वहाँ कौन है ?"

"सुना है, कहीं का एक राजा संन्यासी होकर उस क़िले में दिन बिता रहा है।"

"बाबूजी, राजा संन्यासी क्यों हो गया ?"

फ़क़ीर—"यह तो मैं नहीं जानता, शायद इसके भाई ने इसे कुत्ते की तरह देश से बाहर निकाल दिया है। उसने इसके राज्य, सुख, धन, सम्पत्ति सब हड़प लिये हैं। यह बेचारा मारा मारा फिरता है। इसके पास अब गेरुआ वस्त्र के सिवा और क्या होगा। रहने के लिए एक छोटी सी अँधेरी गुफ़ा होगी। अपने भाई के विद्वेषमय विषैले दाँतों से इस बेचारे को अब और कहीं शरण नहीं।" यह कह कर फ़क़ीर ने

ज़ोर से अपने होठों को दबा कर हृदय का आवेग रोका। बड़े लड़के ने पूछा—"यह संन्यासी किस देश का राजा था?"

फ़क़ीर—"मालूम नहीं।"

बड़ी लड़की—"अगर हम लोगों को जगह न दे?"

फ़क़ीर—"तब हम लोग पेड़ के नीचे ही पड़े रहेंगे। हम लोगों के लिए अब और जगह कहाँ!"

सूर्यास्त होने के कुछ पहले क़िले के अन्दर संन्यासी और फ़क़ीर परस्पर मिले। वे एक दूसरे को देख कर चकित हुए। गोविन्दमाणिक्य ने ध्यान से उसकी ओर देखा—फ़क़ीर वास्तव में फ़क़ीर नहीं जान पड़ा। स्वार्थ से भरी हुई छोटी छोटी वासनाओं को हृदय से हटा कर, शुद्ध मन से ईश्वर के भजन करने पर जो एक प्रकार का तेज मुखमण्डल पर प्रकाशमान होता है, फ़क़ीर के मुँह पर वह उन्हें नहीं देख पड़ा। फ़क़ीर चौकन्ना और चकित सा दिखाई दे रहा है। उसके हृदय की तृषित वासना मानो उसकी प्रज्वलित आँखों से अग्निपान कर रही है। उसके मन के भीतर रुकी हुई हिंसा मानो अपने को आप ही काट काट कर खा रही है। साथ में जो उसके तीन लड़के हैं, उनके थके माँदे सुन्दर सुकुमार शरीर और एक प्रकार का गौरवान्वित सङ्कोच देख कर मालूम

होता है जैसे वे जन्म से ही बड़ी हिफ़ाज़त और बड़ी इज़्ज़त के साथ रक्षित होकर नीचे की ज़मीन से बिलकुल ही सम्बन्ध न रखते थे। माना पहले ही पहल इन लोगों ने धरती पर पैर रक्खे हैं। पैदल चलने से पैर की उँगली में धूल लगती है, इसके पहले प्रायः कभी इन लोगों को इसका अनुभव न हुआ था। धूल से भरी हुई पृथ्वी की इस दरिद्रावस्था पर माना पग पग में इन लोगों को घृणा उत्पन्न हो रही है। मसनद और मिट्टी में तफ़ावत का ख़याल करके वे सब पग पग पर माना धरती को धिक्कार दे रहे हैं। माना धरती ने उन लोगों पर विशेष ईर्ष्या करके अपनी बड़ी मसनद को उठा कर कहीं रख छोड़ा है। जिन जिन बातों से उन्हें तकलीफ़ पहुँचती है, वे सभी माना उनसे शत्रुता कर रही हैं। दरिद्र लोग भीख के लिए मैला कपड़ा लेकर जो उनके पास घुस आने का साहस करते हैं यह सिर्फ़ उनकी शरारत है। जैसे कुत्ते को पीछे आते देख खाने की कुछ थोड़ी सी चीज़ दूर से लोग फेंक देते हैं, वैसे ही ये भूखे मैले कुचैले भिखमँगे को देख कर दूर ही से नाक सिकोड़ते हुए मुट्ठी भर रुपया बेतकल्लुफ़ फेंक देते थे। इन लोगों की आँखों के सामने लोगों की साधारण अवस्था, फटे मैले कपड़े और मुफ़लिसी माना एक भारी बेअदबी समझी जाती थी। ये लोग जो इस समय संसार में सुखी और सम्मानित नहीं हो रहे हैं यह केवल संसार का ही

दोष है। गोविन्दमाणिक्य ने इन वाहियात बातों को थोड़े ही सोचा होगा। वे तो उसका लक्षण देख कर ही समझ गये कि यह अपनी सम्पूर्ण वासनाओं को त्याग कर स्वतन्त्रता-पूर्वक संसार का उपकार करने के हेतु बाहर नहीं हुआ है। किन्तु यह अपनी आशा पूरी न होने के कारण रुष्ट होकर घर से निकल पड़ा है। यह जो चाहता है सो इसे संसार में क्यों नहीं मिलता, फ़क़ीर के मन में इसी की चिन्ता हो रही है। किन्तु संसार में उसके भाग्य से जो कुछ मिल गया है उस पर सन्तोष करके रहना वह नहीं चाहता, संसार उसको मन माना सुख नहीं देता। इस कारण संसार से बिगड़ कर और उसे अग्राह्य की तरह परित्याग करके यह फ़क़ीर माने संसार से अलग हो गया है।

फ़क़ीर ने जब गोविन्दमाणिक्य को देखा तब उसका पहला ख़याल बिलकुल बदल गया। उन्हें वह राजा कह कर पुकारे अथवा संन्यासी कह कर, इसका वह निश्चय न कर सका। उसने तो अपने मन में समझ रक्खा था कि एक तोंद बढ़ाये, पगड़ी पहने किसी मोटेमल को देखेंगे, अथवा एक मलिन संन्यासी को सारी देह में भस्म लगाये, धरती पर सोये, और अपनी साधुता पर गर्व करते हुए दरिद्रवेष में देख पावेंगे। पर इन दोनों में उसे एक भी न देख पड़ा। गोविन्द-माणिक्य को देख कर उसे ऐसा जान पड़ा जैसे उन्होंने अपनी

इच्छा से सब त्याग दिये हैं, तब भी सब मानो उन्हीं के हो रहे हैं। वे कुछ न पाने की इच्छा रख के ही मानो सब पा गये हैं। उन्होंने जिस प्रकार आत्मसमर्पण किया है, उसी प्रकार मानो समस्त संसार ने उनकी सेवा में अपने को समर्पित कर दिया है। किसी प्रकार का राजसी ठाट नहीं तो भी वे राजा कहलाने योग्य हैं, उसी तरह संसार के सभी कामों को करते हुए भी वे संन्यासी बने हुए हैं। इस कारण फ़क़ीर को न उन्हें राजा कहते बनता है, न संन्यासी ही।

राजा ने उन अतिथियों को बड़े आदर से ठहराया, विधिवत् उनकी सेवा की। किन्तु उन लोगों ने राजा के आतिथ्य को बड़े अनादर के साथ ग्रहण किया। मानो वे उनके मातहत हों। उन अतिथियों को आराम के लिए किन चीज़ों की आवश्यकता है, वह भी उन्होंने राजा को ज़ाहिर कर दिया। राजा ने बड़े लड़के से स्नेह के साथ पूछा—"रास्ता चलने से क्या तुम्हें थकावट अधिक जान पड़ती है?"

लड़का इसका कुछ उचित उत्तर न देकर फ़क़ीर के पास दबक बैठा। राजा ने उन लोगों की ओर स्नेह-दृष्टि से देख कर और मुसकरा कर कहा—"तुम लोगों का यह सुकुमार शरीर तो रास्ता चलने योग्य नहीं है। तुम लोग कुछ दिन इस क़िले में रहो। मैं तुम लोगों को बड़ी हिफ़ाज़त से

रक्खूँगा। किसी तरह का कष्ट न होने दूँगा।" राजा की इस बात का जवाब देना उचित है या नहीं, अगर उचित ही है तो क्या जवाब देना चाहिए, यह लड़कों को क्या मालूम, दूसरे के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए यह वे लोग जानते ही नहीं। वे तीनों फ़क़ीर के मुँह की ओर देखने लगे और उसके पास बैठे। उन लड़कों ने समझा कि शायद यह आदमी अपने मैले हाथ को बढ़ा कर उन्हें अपनी ओर खींचना चाहता है।

फ़क़ीर ने गम्भीर स्वर में कहा—"अच्छा, हम, लोग तुम्हारे इस क़िले में कुछ दिन रह सकते हैं।" माना उसने राजा के ऊपर बड़ा एहसान किया। फ़क़ीर ने मन ही मन कहा—"अगर तुम मुझे वह (शुजा) करके जानते तो मेरे इस अनुग्रह से तुम्हें बेहद ख़ुशी होती।"

वे तीनों लड़के राजा से किसी तरह भी हिल मिल न सके, और फ़क़ीर तो माना एकदम निरपेक्ष ही हो रहे।

फ़क़ीर ने गोविन्दमाणिक्य से पूँछा—"सुना है, तुम किसी समय राजा थे। कहाँ के राजा थे?"

गोविन्दमाणिक्य—"त्रिपुरा के।"

लड़कों ने यह सुन कर उन्हें महज़ छोटा करके समझा। यद्यपि उन्होंने कभी त्रिपुरा का नाम भी नहीं सुना था।

फ़क़ीर ने कुछ अचम्भे में आकर फिर पूछा—"तुम राज्यच्युत क्यों हुए ?" गोविन्दमाणिक्य कुछ देर चुप हो रहे, आखिर उन्होंने कहा—"बंगाले के नवाब शाहशुजा ने मुझे राज्य से निर्वासित कर दिया।" उन्होंने नक्षत्रराय का कोई ज़िक्र न किया।

यह सुन कर सभी लड़के चौंक उठे और फ़क़ीर के मुँह की ओर देखने लगे। फ़क़ीर का मुँह मलिन हो गया। मानो उसे कोई पुरानी बात याद हो आई। आख़िर उसने सहसा कह डाला—"मालूम होता है, तुम्हारा भाई ही तुम्हारे निर्वासन का कारण हुआ। उसीने तुम्हारा राज्य हड़प कर तुम्हें संन्यासी बना डाला है।

राजा ने आश्चर्य करके कहा—"साहब, आपने इन बातों को कैसे जाना।" फिर उन्होंने मन में सोचा कि यह आश्चर्य की कौन सी बात है। किसी से उन्होंने सुना होगा।"

फ़क़ीर ने फ़ौरन कहा—"मुझे कुछ मालूम नहीं। मैंने सिर्फ़ अनुमान करके ही कहा है।"

जब रात हुई तब फ़क़ीर लड़कों को साथ लेकर सोने गया। फ़क़ीर को रात भर नींद न आई। वह जागते ही जागते दुःस्वप्न देखने लगा और रह रह कर चौंकने लगा।

दूसरे दिन सबेरे फ़क़ीर ने कहा—"एक बहुत ज़रूरी काम आ पड़ा है। अतएव हम लोग अब यहाँ अधिक दिन नहीं ठहर सकते। आज हम लोग यहाँ से बिदा होंगे।"

गोविन्दमाणिक्य—"लड़के बहुत थके हैं। उन्हें कुछ दिन विश्राम कर लेने दीजिए तब फिर जब आपका जी चाहे, चल दीजिएगा।"

यह सुन कर लड़कों को कुछ क्रोध हो आया। उनमें जो सबसे बड़ा था उसने फ़क़ीर की ओर देख कर कहा—"हम लोग बिलकुल बच्चे ही नहीं हैं, ज़रूरत पड़ने पर हम लोग प्रसन्नता से कष्ट सहन कर सकते हैं।"

गोविन्दमाणिक्य की स्नेहभरी बातें न मालूम उन लड़कों को क्यों अच्छी नहीं लगतीं। वे गोविन्दमाणिक्य से सम्मानित होकर रहना नहीं चाहते।

गोविन्दमाणिक्य ने फ़क़ीर को रहने के लिए विशेष आग्रह करना उचित नहीं समझा। अतएव वे चुप हो रहे।

फ़क़ीर जिस समय जाने की तैयारी कर रहा था उसी समय क़िले में एक और अतिथि आया। जिसे देख कर राजा और फ़क़ीर दोनों चकित हुए। फ़क़ीर का मुँह सूख गया। वह अब क्या करेगा सो उसे कुछ सूझ न पड़ा। वह चकित होकर इधर उधर देखने लगा। राजा ने अपने अतिथि को

प्रणाम किया । अतिथि और कोई नहीं, वही रघुपति हैं। रघुपति ने राजा को आशीर्वाद दिया—"जय हो।"

राजा ने बड़े व्यग्र होकर पूछा—"आप नक्षत्र के पास से आ रहे हैं? क्या कोई नया हाल है?"

रघुपति ने कहा—"नक्षत्रराय कुशलपूर्वक हैं। उनके लिए आप कोई चिन्ता न करें। (आकाश की ओर हाथ उठा कर) जयसिंह ने मुझे आपके पास भेजा है। वे अब इस संसार में नहीं हैं। जब तक मैं उनके मन की बात पूरी न करूँगा तब तक मुझे अब चैन कहाँ। मैं अब बराबर तुम्हारे साथ रहूँगा और तुम्हारे हर एक काम में यथासाध्य सहायता दूँगा।"

राजा को कुछ देर तक रघुपति का आशय समझ में न आया। उन्होंने एक बार मन में सोचा—"रघुपति शायद पागल तो न हो गया है?"

राजा ने उसकी बात का कुछ जवाब न दिया।

रघुपति—"मैं सब देख चुका, सुख किसी में नहीं है। हिंसा में सुख नहीं, राग-द्वेष में सुख नहीं और प्रभुता पाने पर भी सुख नहीं है। आपने जिस मार्ग का अवलम्बन किया है, सुख उसी में है। मैंने आपके साथ बड़ी शत्रुता की, आपके जी को दुखाया। हाय! मैं आपको अपने पास बलि देना

चाहता था। आज मैं आपके पास अपने को सम्पूर्णरूप से समर्पण करने आया हूँ।

गोविन्दमाणिक्य—"आपने मेरा बड़ा ही उपकार किया। मेरे शत्रु छाया की तरह मेरे साथ लगे फिरते थे। आपने मुझे उनके पञ्जे से बचा लिया।"

रघुपति ने इस बात पर विशेष ध्यान न देकर कहा—"महाराज, मैं इतने दिनों से प्राणियों का रक्तपात करके जिस पिशाचिनी (हिंसा) की सेवा करते आया हूँ वह अब मेरे ही हृदय का रक्त सोखने लगी है। लोहू की प्यासी उस जड़ता मूर्खता को छोड़ कर मैं आपके पास यहाँ आया हूँ। वह अब महाराज के राज्य में, देव-मन्दिरों में नहीं है। अब वह राज-दरबार में प्रवेश करके सिंहासन पर चढ़ बैठी है।"

राजा—"देवमन्दिरों से जब वह दूर हुई तब क्रमशः मनुष्यों के हृदय से भी दूर हो जायगी।"

पीछे से एक परिचित स्वर बोल उठा—"नहीं महाराज, मनुष्यों के ही हृदय यथार्थ मन्दिर हैं, उसी जगह तलवार पर सान चढ़ाया जाता है और उसी जगह शत सहस्र मनुष्यों की हिंसा होती है। देवमन्दिर में तो उसका एक साधारण अभिनय मात्र होता है।"

राजा ने अचम्भे के साथ पीछे की ओर घूम कर देखा तो हँसते हुए प्रसन्नमूर्ति बिल्वन खड़े हैं। राजा ने उन्हें प्रणाम करके रुद्ध-स्वर में कहा—"आज मेरे आनन्द की सीमा नहीं।"

बिल्वन ने कहा—"महाराज ने अपने अन्तःकरण को जीत कर मानो सारे संसार को जीत लिया है। इसीसे आज आपके द्वार पर शत्रु मित्र सभी आकर समान भाव से खड़े हुए हैं।

फ़क़ीर कुछ आगे बढ़ कर बोला—"महाराज, मैं भी तुम्हारा एक भारी दुश्मन हूँ, मैं भी आज अपने को तुम्हारे हाथ अर्पित करता हूँ। उसने रघुपति की ओर अँगुली उठा कर कहा—"यह ब्राह्मण मुझे पहचानता है। मैं ही शुजा हूँ। बङ्गाले का नवाब मैं ही हूँ। मैंने ही तुमको निपराध निर्वासित किया और उस पाप का उचित दण्ड पाया। मेरे भाई की हिंसा पिशाचिनी मेरे रुधिर की प्यासी होकर आज गली गली मेरे पीछे लगी फिरती है। अपने राज्य में मुझे पाँव रखने की भी कहीं जगह नहीं। मैं अब वेश बदल कर नहीं रह सकता। मैं तुम्हारे पास अपने को समर्पित कर तुमसे रक्षा चाहता हूँ।"

राजा ने नवाब को अपने गले से लगाया और कहा—"आज मेरे सौभाग्य का क्या कहना है।"

रघुपति—"महाराज आपके साथ शत्रुता करने में भी लाभ है। मैं आपके साथ शत्रुता करने आ कर ही आज आपके पास आगिरा हूँ। नहीं तो किसी समय में भी आप को थोड़े ही पाता।"

बिल्वन ने हँस कर कहा—"ठीक है, फन्दे में फँस कर अगर कोई फन्दे से छुट भागने की चेष्टा करे तो उसका गला और भी फँस जाता है।"

रघुपति—"मैं अब निर्द्वन्द्व हो गया। मुझे अब कोई दुःख नहीं। मैं अब शान्ति पा गया।"

बिल्वन—"शान्ति सुख तो अपने हृदय के भीतर ही है। लोग उसे ढूँढ़ते नहीं। भगवान् ने माना मिट्टी के बर्तन में यह अमृत भर रक्खा है। परन्तु यह अमृत है—ऐसा किसीको विश्वास नहीं। धक्का लग कर जब बर्तन फूटता है तब बहुत दिन बाद कहीं अमृत का स्वाद मिलता है। हा, ऐसी अनूठी चीज़ कहीं ऐसे पात्र में रक्खी जाती है।"

इसी समय हुल्लड़ मचाते हुए कितने ही छोटे बड़े लड़के क़िले के अन्दर आ पहुँचे। राजा ने बिल्वन ठाकुर से कहा—"स्वामी जी, देखिए, ये सभी मेरे ध्रुव हैं।" उन्होंने लड़कों की ओर अँगुली उठाई।

बिल्वन ने कहा—"जिस एक ध्रुव की बदौलत तुमने इतने ध्रुव पाये हैं, वह तुम्हें भूला नहीं है। मैं अभी उसे लाये देता हूँ।" यह कह कर वे बाहर गये और कुछ देर के बाद ध्रुव को गोद में लिये हुए आये। उन्होंने राजा की गोद में ध्रुव को रख दिया। राजा ने ध्रुव को छाती से लगा कर कहा—"ध्रुव!"

ध्रुव कुछ न बोला, वह चुप चाप राजा के कन्धे पर सिर रख कर पड़ रहा। बहुत दिनों के बाद भेट होने पर शायद उस बालक के छोटे से हृदय में कुछ ग्लानि और संकोच सा हो आया। उसने राजा के गले से लिपट कर अपना मुँह छिपा लिया।

राजा ने कहा—"और तो सब हुआ, सिर्फ़ नक्षत्र ने मुझे एक बार भाई कह कर न पुकारा।"

शुजा ने बड़ी फुरती से कहा—"महाराज, और लोग सभी भाई की तरह भले ही व्यवहार करें पर अपना भाई भाई का सा व्यवहार नहीं करता।"

शुजा के हृदय में अब भी भाई का व्यवहार बरछी की तरह चुभ रहा है।

उपसंहार

इस जगह इतना जान लेना आवश्यक है कि वे तीनों लड़के, जो पुरुष के वेश में थे, शुजा की तीनों लड़कियाँ थीं। शुजा मक्का जाने के मतलब से चटगाँव के बन्दर गये थे, किन्तु उनके अभाग्य से अधिक वर्षा होने के कारण एक भी जहाज़ उन्हें न मिला। आख़िर हताश होकर वहाँ से लौटती बार उन्हें रास्ते में गोविन्दमाणिक्य के साथ क़िले के अन्दर भेंट हुई। शुजा कुछ दिन उसी क़िले में रहे। आख़िर फिर उन्हें ख़बर मिली कि बादशाह की सेना उनकी तलाश में घूम रही है। गोविन्दमाणिक्य ने सवारी आदि का बन्दोबस्त करके अधिक नौकरों के साथ उन्हें सम्मानपूर्वक अपने मित्र अराकान के राजा के पास भेज दिया। शुजा ने चलने के वक़्त गोविन्दमाणिक्य को अपनी एक बहुमूल्य तलवार उपहार स्वरूप दी।

इस बीच में राजा, रघुपति और बिल्वन के साथ मिल कर सारे गाँव के लोगों को अच्छे रास्ते पर ले आये। राजा का वह क़िला मानों सारी बस्ती का प्राण हो उठा।

इस प्रकार छः वर्ष बीत जाने पर छत्रमाणिक्य की मृत्यु हुई। गोविन्दमाणिक्य को फिर सिंहासन पर बैठाने के हेतु

त्रिपुरा से दूत आये। गोविन्दमाणिक्य ने पहले तो यही कहा कि—"मैं अब अपने देश लौट कर न जाऊँगा।"

बिल्वन ने समझा कर कहा—"महाराज, ऐसा न कीजिए। जब धर्म स्वयं दरवाज़े पर आकर पुकार रहा है तब उसका अनादर करना उचित नहीं।"

राजा ने अपने विद्यार्थियों की ओर देख कर कहा—"मेरे इतने दिनों की आशा और इतने दिनों का काम अधूरा ही रहेगा।"

बिल्वन—"आपका काम मैं पूरा करूँगा।" राजा ने कहा—"आप यदि यहाँ रहेंगे तो मेरे वहाँ का काम आपके बिना पूरा न होगा।"

बिल्वन—"अब आपको मेरी कोई आवश्यकता नहीं, अब अपने काम को आप ब.खूबी सँभाल सकते हैं। मैं कभी कभी आपसे मिलता रहूँगा।"

राजा ध्रुव को लेकर अपने राज्य में गये। ध्रुव अब वैसा बालक नहीं है। उसने बिल्वन की कृपा से संस्कृत भाषा सीख कर शास्त्र पढ़ने में मन लगाया है। रघुपति ने फिर अपनी पुरोहिती ग्रहण की। इस बार मन्दिर में आकर मानो उन्होंने मृत जयसिंह को जीवित दशा में पाया।

इधर अराकान के राजा ने शुजा के साथ विश्वास-घातकता की। उसने शुजा को मार कर उसकी छोटी लड़की

से ब्याह किया। गोविन्दमाणिक्य अभागे शुजा के ऊपर अराकान के राजा की निर्दयता का वृत्तान्त सुन कर बहुत दुःखी हुए। उन्होंने शुजा का नाम चिरस्मरणीय करने के हेतु उस उपहार स्वरूप तलवार के बदले बहुत धन खर्च करके कुमिल्ला शहर में एक बड़ी ही मनोहर मसजिद बनवाई। वह अब भी शुजा मसजिद के नाम से उक्त स्थान में मौजूद है।

गोविन्दमाणिक्य के प्रयत्न से कितने ही गाँव-नगर नये बस गये। उन्होंने अच्छे अच्छे विद्वान् ब्राह्मणों को बहुत सी ज़मीन ताम्रपत्र पर सनद लिख कर दान दे डाली। महाराज गोविन्दमाणिक्य ने कुमिल्ला के दक्खिन बातिसा गाँव में एक बहुत बड़ा तालाब खुदवाया और उन्होंने कितने ही अच्छे अच्छे कामों में हाथ लगाया पर उन्हें सम्पन्न न कर सके। वे १६६९ ईसवी में इस संसार को त्याग कर सुरपुर चले गये।

समाप्त

शेष दो अनुच्छेद (पाराग्राफ़) श्रीयुक्त बाबू कैलासचन्द्र-सिंहप्रणीत त्रिपुरा के इतिहास से उद्धृत हुए हैं।